सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी

(द्वितीय भाग)

स्वामी निरंजन

लेखक की लेखनी

सभी प्राणी दुःखों की पूर्णतया कारण सहित निवृत्ति एवं अखंडानन्दानुभूति चाहते हैं । इस चाह का नाम ही मुक्ति या परम पुरुषार्थ है । कोई भी प्राणी बन्धन, अशान्ति या दुःखों में रहना नहीं चाहता है, किन्तु अपने ही संकल्पों, विचारों के जाल में फँसकर शोक-मोह ग्रस्त हो दुःख भोग रहा है इस दुःख बन्धन को तोड़ना ही मोक्ष है ।

'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' गीता १०/३२

उपनिषद् मतानुसार अध्यात्म विद्या ही एक मात्र ऐसी विद्या है जो जीव को समस्त दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति एवं परमानन्दानुभूति करा सकती है ।

इस भौतिक वैज्ञानिक काल में प्रायः प्रातः से शयन करने तक लोगों का समय भोग पूर्ति में ही अपर्याप्त सा हो रहा है वहाँ अपने कल्याणार्थ कुछ करने, पढ़ने, सुनने, सोचने का समय तो बहुतायत से मिल ही कैसे सकेगा ? फिर ऐसे व्यवहाररत दुःखी लोग यदि वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, गीता, भागवत, योगादि दर्शन शास्त्रों का स्वाध्याय कर ले तो भी अपने मन में उठने वाले आध्यात्मिक संशयों का समाधान खोज निकालना उनके लिये कदापि सम्भव नहीं हो सकेगा ।

जिज्ञासुओं द्वारा जो साधनाकाल में नाना प्रश्न उठते हैं उन्हें संग्रहित कर यह वेदान्त प्रश्नोत्तरमाला ग्रन्थाकार रूप में मुमुक्षुओं के लिए प्रकाशित किया जा रहा है । जिससे साधना के प्रथम सोपान से लेकर साधना के

अन्तिम सोपान तक उठने वाले संशयों का समाधान बहुत ही सरल युक्ति एवं शास्त्रिय प्रमाण द्वारा किया है ।

पाठको से निवेदन है कि वे इसे श्रद्धा पूर्वक किसी सद्गुरु के द्वारा श्रवण करें ताकि शीघ्र ही मनन और निदिध्यासन द्वारा अपने को देह से भिन्न द्रष्टा, साक्षी आत्मरूप से जान सर्वत्र एक निजात्म स्वरूप का ही अनुभव कर सकें । जब एक ब्रह्म के अलावा कुछ अन्य नहीं है ऐसी वेदान्त घोषणा है, तब जीव कहाँ है ? तब कर्म एवं कर्ता कहाँ है ? तब भोक्ता कहाँ है ? तब बन्ध एवं मोक्ष कहाँ है ? तब जगत् कहाँ है ? सब भ्रान्ति मात्र है । केवल एक ब्रह्म ही सत्य है । ''नेह नानास्ति किंचिन्'', ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

सम्पूर्ण ग्रन्थों का जो सार है जो समस्त साधकों, भक्तों, योगियों, सिद्धों का लक्ष्य एवं विश्राम स्थल है । वह क्या है एवं कहां है ? यदि कोई पूछे तो इतना ही कहा जा सकता है - ''तत्त्वमसि'' ''वह तू है'' अर्थात् वह मैं हूँ । जो इस रहस्य को सद्गुरु कृपा से जान लेता है वही प्रकृत ब्राह्मण, संन्यासी, त्यागी, योगी एवं भक्त है । परमात्मा को आत्मा रूप जाने बिना कोई कितना ही भेद भक्ति रूप जड़ कर्म, हठयोग करे किन्तु वह मन्द बुद्धि वाला देव पशु ही कहलाने का अधिकारी है ।

प्रश्नोत्तर के रूप में यह विचारों का शास्त्र मुमुक्षुओं के समस्त संशयों एवं मनो जाल को काट कर उसे मुक्त स्वरूप का अनुभव करा देगा । सूर्योदय के साथ अंधकार नाश की तरह अपना स्वयं प्रकाश स्वरूप प्रकट होकर समस्त बुद्धि के भेद रूप अज्ञान अन्धकार राशि को समाप्त कर एक अखण्ड ब्रह्म का सोऽहम् रूप से अनुभव करा सकेगा ।

साधारण से साधारण संस्कार वाले अन्तःकरण से लेकर विचार प्रधान जिज्ञासु को यह ग्रन्थ लाभकारी सिद्ध होगा ऐसा मेरा विश्वास है ।

जब आप अपने स्वरूप को पहचान लेंगे तब आपका मन पवित्र एवं प्रशांत हो जावेगा । जिसके परिणाम स्वरूप आपको न मौत का भय न जन्म का दुःख होगा । न गृहस्थ, व्यवहार, बन्धन एवं बोझ रूप होगा । तब आपके श्वाँस-श्वाँस में भीतर-बाहर सर्वत्र सर्वरूप परमात्मानुभूति ही होती रहेगी । आप परमात्मा से अपने को किंचित् भी भिन्न-दूर न समझें । अपने को परमात्मा से भिन्न मानना ही दुःख एवं बन्धन है तथा परमात्मा को सोऽहम् रूप गुरु कृपा से जानना ही मोक्ष है । दस-बीस आसन, प्राणायाम, मुद्रा कला जानने वाले अपूर्ण होने पर भी अपने में पूर्णता का अहंकार रखने वाले अज्ञानी इस राज योग, ब्रह्म विद्या के महातप, महायोग, महासिद्धि के चमत्कार को कैसे जान सकेंगे ? कभी नहीं । किन्तु श्रद्धावान् को ही सद्गुरु कृपा से आत्म ज्ञान एवं आत्म ज्ञान से ही मुक्ति की अनुभूति हो सकेगी । यह आत्म तत्त्व ही जानने, सुनने, देखने,मनन करने योग्य है । ऐसा याज्ञवल्क्य ऋषि अपनी विदुषी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश करते है- ''**आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यः मनतव्यः निदिध्यासितव्यः**'' यह आत्म तत्त्व ही जानने योग्य है श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करने योग्य है और वह तुम ही हो

स्वामी निरंजन
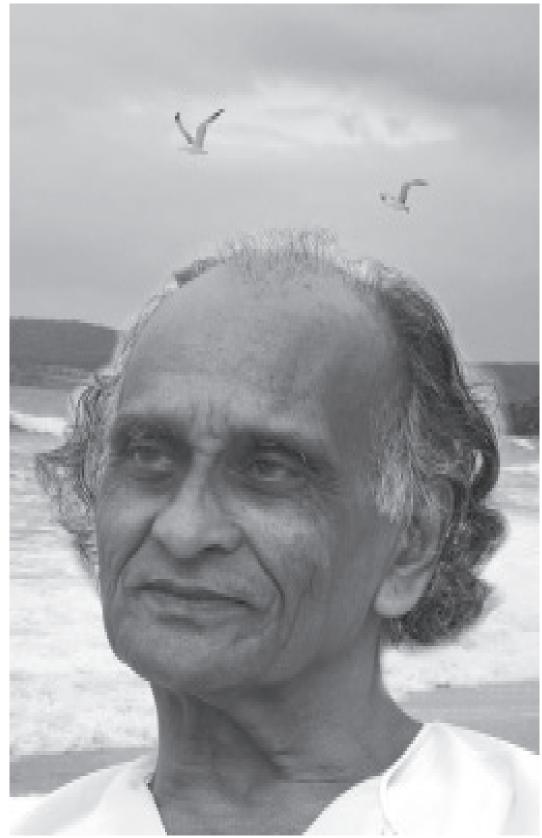
प्रश्न १ : परमात्मा को सृष्टि रचना करने की इच्छा क्योंहुई ?

उत्तर : परमात्मा, जिसे शुद्ध ब्रह्म कहा जाता है उसे सर्व प्रथम इच्छा क्यों हुई ? यह प्रश्न अपने वास्तविक स्वरूप के न जानने से ही है । शुद्ध ब्रह्म केवल ज्ञान स्वरूप है ज्ञान ही ब्रह्म का रूप है । ज्ञान सदैव अज्ञान का निवर्तक है, ज्ञान में अज्ञान आना या इच्छा कहना वैसा ही है जैसे कि प्रकाश में सर्व प्रथम अंधकार कैसे आया ? यही कहेंगे कि तुम्हारा प्रश्न ही गलत है । प्रकाश में अन्धकार कभी आया ही नहीं । इसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म में कभी इच्छा हुई ही नहीं ।

वेद पुराण शास्त्रों में परमात्मा को अखंड, निर्विकार, कूटस्थ, ध्रुव, अचल, अटल, अडोल, स्वयं प्रकाश, स्वयं सिद्ध, अच्यूत आदि अनन्त विशेषणों द्वारा बताया है । जो स्वभाव से ही अद्वय है वह किसी को न तो उत्पन्न करता है न किसी अन्य रूप में बदलता है । यदि वह अपने यथार्थ स्वरूप को त्याग कर अन्य रूप धारण करता होता तो फिर प्रकाश में अंधकार, ज्ञान में अज्ञान और अमृत में मृत्यु की भी कल्पना करना होगी किन्तु ऐसा तो अनादि से आज तक सृष्टि काल में ऐसा कभी नहीं हुआ और न कभी होगा ही । अतः सिद्धान्तः उस शुद्ध ब्रह्म को न तो सृष्टि रचना की इच्छा हुई, न उसने जीव एवं ईश्वर को बनाया । इसलिये इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वास्तव में न कुछ था न है न होगा एक वस्तु ज्यों की त्यों अपनी ही सत्ता में, अपनी ही महिमा में विद्यमान है ।

मन्द अंधकार तथा नेत्र दोष के कारण देखने वाले अवश्य भ्रमवश रस्सी को जलधारा, सर्प, भू-छिद्र, लकड़ी, रबर पाईप आदि कहते हैं पर रस्सी सत्ता अपनी महिमा में ही स्थित है । किन्तु जब प्रकाश द्वारा रस्सी अधिष्ठान का ज्ञान हो जाता है तब सर्पादि समस्त भ्रम बुद्धि से दूर हो जाते हैं

और एक अद्वितीय रस्सी का बोध हो जाता है । उसी प्रकार मैं अधिष्ठान का बोध होते ही जीव, जगत् तथा ईश्वर का भ्रम भी दूर हो जाता है ।

अब प्रश्न यह विचारणीय है कि इच्छा ब्रह्म को हुई है तो ब्रह्म स्वेच्छापूर्ण न होने पर स्वयं दुःखी होगा और उसके निवृत्ति का उपाय ढूंढ़ निकालेगा, आप क्यों परेशान है ? यदि कहो कि कष्ट हमें है तो फिर तर्क-कुतर्क छोड़ अपने रोग निवृत्ति हेतु किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ संत रूप बैद्य की शरण में जा अपने भ्रांति रोग की रामबाण औषध ज्ञानामृत का सेवन क्यों नहीं करते जो सर्व रोग हरण की एकमात्र औषधि है ?

समझो किसी गाँव में गर्मी के दिनों में तेज आँधी के कारण चुल्हे की आग छत में जा लगी व धीरे-धीरे एक-एक घर जलाते हुए आपके घर में आग प्रवेश कर जाए तो क्या आप तुरन्त आग न बुझा अन्य लोगों से यह प्रश्न करेंगे कि यह आग क्यों लगी, प्रथम किसके घर में लगी उनका नाम, जाति, व्यापार क्या है ? उन्होंने वहाँ ही तुरन्त इसे क्यों नहीं बुझायी ? जो उसकी मुर्खता के कारण यह आग यहां तक आ गई । अभी तक बीच में किसी ने भी इसे क्यों नहीं रोका ? क्या ऐसे प्रश्न करने से आपके घर की अग्नि शांत हो जावेगी या घर अग्नि में भस्म हो जावेगा ? यदि समझदार व्यक्ति है तो व्यर्थ की बातें छोड़ आग को शांत करने का तत्काल प्रयत्न करने लगेगा । अपनी रक्षा आपको ही करना होगी, जैसा कि कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं-**''उद्धरेत् आत्मना आत्मानम्''** अपने द्वारा ही अपना उद्धार कर । तू यदि अपने उद्धार की चेष्टा करेगा तब तो गुरु ईश्वर-शास्त्र सब तेरी मदद रूप हो जावेंगे एवं यदि तू ही कल्याणार्थ चेष्टा नहीं करेगा तो मनुष्य जीवन, ईश्वर कृपा, सद्गुरु सानिद्ध सब मिलकर भी कुछ नहीं कर सकेंगे ।

हे मुमुक्षु ! जैसे किसी नदी में नहाते समय किसी बालक का अचानक पैर फिसल जावे और वह डूबने लगे और आपको पानी में ऊपर-नीचे होता प्रतीत हो तो कुशल तैराक का सर्व प्रथम कर्तव्य है कि उसे तत्काल पानी से बाहर करें । उसका यह कर्तव्य नहीं है कि डूबते हुए को

प्रथम पानी से बाहर न कर आस-पास के लोगों से यह पूछे कि यह बच्चा किसका है ? इसका नाम क्या है ? यह कहाँ रहता है ? कौन जाति का है ? इसकी शादी हुई है या नहीं ? यह क्यों डूब गया ? क्या इसे तैरना नहीं आता है ? यदि नहीं आता तो यह अकेला क्यों नहाने आया ? यदि आया तो इतने गहरे पानी में आगे क्यों बढ़ा ? क्या किसी परेशानी से दुःखी हो आत्महत्या करने के लिये तो नहीं गिरा ? आदि-आदि प्रश्न करते रहने तक तो वह बच्चा जो उसके समक्ष डूबता प्रतीत हो रहा था वह डूब ही मरेगा । यदि आप तैराक हैं तो यह सब व्यर्थ के प्रश्न छोड़ फौरन जा कर उसे युक्ति पूर्वक किनारे लगा देना चाहिये ।

शास्त्र सम्बन्धी शंका का समाधान लेना ऐसा ही है जैसे प्याज के छिलके निकालकर प्याज का अन्तिम रहस्य पता लगाना । छिलके के भीतर छिलके ही निकलते रहेंगे । उसी प्रकार एक शंका का समाधान यदि आपको अभी यहाँ मिल भी जावे तो नये प्रश्न पुनः उत्पन्न होते चले जावेंगे । अब शंका का समाधान कैसे हो ? तो इसका उत्तर यही है कि शंका का समाधान श्रवण द्वारा निवृत्त होगा शंका करने मात्र से नहीं या शंका करते रहने से नहीं । श्रवण से बुद्धिगत जो सशंय विपर्यय दोष है वह निवृत्त हो जाते हैं । जैसे आप किसी संत के निकट पहुँचे और कोई प्रश्न करें तो संत आपको कहेंगे कि एकाग्रचित्त हो श्रवण करो । तो आप फिर श्रवण में लगेंगे । अस्तु प्रथम या बाद में श्रवण ही एक मात्र संशय सागर से तैरने की नौका है । यदि सद्गुरु के निकट बैठ, श्रद्धा विश्वास न हुआ तो भी संशय बना ही रहेगा । अतः अपने निकट जो भी अनुभवी संत प्रतीत हो उनके सम्मुख अपना क्षुद्र मिथ्या ज्ञानाभिमान छोड़ उनकी श्रद्धापूर्वक शरण ग्रहण कर तत्काल सशंय सर्प से मुक्ति पा लें एवं स्वरूप में स्थित हो स्वस्थता का अनुभव करें ।

हे धीरमति ! जैसे एक बृहदाकाश में नाना घट-मठादि होने से आकाश सत्ता का खंड नहीं होता, वह अपनी सूक्ष्मता और निराकार रूप से अखंड व पूर्ण ही है । जब इतने भवनों के निर्मित्त होने से भी आकाश में

विकार या भेद खंड उत्पन्न नहीं होता तब आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म, महान, विभू, व्यापक, शुद्ध ब्रह्म में विकार कैसे प्रवेश कर सकती है ?

हे ज्ञान घन आत्मन ! जैसे आकाश के आधार भूत वायू चाहे महाप्रलय की तरह तोड़-फोड़ करने रूप तीव्र गति से चले या जीवन को सुख प्रदान रूप सामान्य गति से बहे या पूर्ण निस्तब्ध हो प्राण हरण करने को तत्पर हो जावे तब भी आकाश रूप अधिष्ठान में क्या विकार हो सकता है ? क्या धूमिल वायू आकाश को मलिन कर सकती है ? या वर्षा, बिजली, ओले आकाश को शीतल या उष्ण, जला सकते हैं ? क्या कोई भी शस्त्र आकाश का छेदन कर सकता है ? क्या महान उष्ण सूर्य अपने विकराल रूप को धारण कर आकाश को तपायमान, जलाकर भस्म कर सकता है ? नहीं ! उसी प्रकार हे ज्ञानघन ! शरीर के विकार जन्म, मृत्यु, सुख-दुःख, रोग-निरोग आदि षड् विकार, असंग, निर्विकार, कूटस्थ, चेतन तत्त्व को किसी भी प्रकार से विकारी नहीं कर सकते । यदि परमात्मा की सत्ता के अलावा अन्य सत्ता सत्य होती तो परमात्मा का फिर अद्वैत विशेषण भी न होता । कृष्ण गीता में कहते हैं-

“मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति” - ७/७

अर्थात् मुझ अद्वैत ब्रह्म से पृथक् किंचित् भी अन्य नहीं है । तथा-

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धिसात्त्विकम् ॥

-१८/२०

अर्थात् जिस ज्ञान से जिज्ञासु भिन्न-भिन्न सब भूतों में केवल एक अविनाशी शुद्ध ब्रह्म को ही आकाश की तरह विभाग रहित सदा समान भाव रूप से स्थिर देखता है उस ज्ञान को ही तू सात्विक जानना और अखंड निर्विकार ब्रह्म सत्ता में नानात्व देखना राजसी ज्ञान है ।

इस प्रकार जब अद्वैत वस्तु स्वयं स्थित है तब परमात्मा अपने

अखंड आनंद को त्याग, सृष्टि रच, जीव बन, पाप कर, दुःख रूप फल या जन्म-मरण रूप फल क्यों पाने लगेगा ? अतः ब्रह्म में विकार मानना भ्रांति है । ब्रह्म सत्ता कभी अपने यथार्थ स्वरूप को त्यागकर दूसरे स्वरूप को धारण नहीं करती । यदि करती है तो फिर अद्वैत वेदान्त का निष्कर्ष ''नेह नानास्ति किंचिन'' असत्य सिद्ध हो जावेगा । इसलिए '**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**' इस वेद प्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा को न कोई संकल्प हुआ न उसने एक से अनेक सृष्टि की उत्पत्ति की है न वह जीव बना है न उसको इच्छा हुई है । सब भेद भ्रान्ति जन्य विकल्प उसी प्रकार मिथ्या है जिस प्रकार एक स्वप्न द्रष्टा ही नानात्व रूप सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय देखता है जो यथार्थ जागरण से निवृत्त हो जाने वाली है ।

हे मोक्ष स्वरूप आत्मन् ! जैसे शुद्ध आकाश घट के संग से अज्ञानी को छोटा-बड़ा, टेड़ा-मेड़ा, आता-जाता, बनता-बिगड़ता प्रतीत होता है, किन्तु आकाश सदा अचल, अखंड और समान है । केवल घट, मठ आदि उपाधि से ही असंग आकाश में घट-मठादि के धर्म आरोपित किये जाते हैं । उसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म तो सदा समान अखंड अद्वैत रूप ही है, किन्तु अज्ञानी देह संघात् उपाधि के सुख-दुःख, भूख-प्यास, जन्म-मरणादि धर्मों को अधिष्ठान आत्म ब्रह्म में मैं दुःखी, मैं भूखा, मैं मर जाऊँगा आदि अपने असंग, निर्विकार आत्मस्वरूप पर आरोपित करलेता हैं । जिसे सद्गुरु, सत् शास्त्र प्रमाण एवं युक्तियों द्वारा अपवाद कर उसके शुद्ध स्वरूप अद्वितीय, अखंड, निर्विकार सत्ता का बोध करा देते हैं । यदि आप पूर्व मतानुसार बीच-बीच में शंका करते चलेंगे, सिद्धान्तों एवं युक्तियों को काटने लगेंगे तो कुछ भी बोध जाग्रत न होगा और अन्य नूतन शंका प्रति शंका के जाल में फंस जावेंगे ।

प्रश्न २ : सर्व प्रथम कोई सृष्टि नहीं तो फिर ब्रह्म को प्रथम सृष्टि में इच्छा कैसे हुई ?

उत्तर : हे शान्त स्वरूपी आत्मन् ! जब संसार का प्रवाह ही अनादि है

तो उसका प्रारम्भ भी नहीं कहा जा सकता कि सृष्टि के पूर्व ब्रह्म को सृष्टि रचना की इच्छा क्यों हुई ?, एक से अनेक होने की इच्छा क्यों हुई या माया क्यों रची ? इस प्रकार प्रश्न करना अविवेक ही है । यह सृष्टि का प्रश्न बीजाकुंर, न्यायवत्, अन्तहीन है । जैसे बीज प्रथम या अंकुर । यदि कहें कि बीज प्रथम तो यह प्रश्न होगा कि बिना वृक्ष के बीज नहीं हो सकता किन्तु बीज बिना वृक्ष भी नहीं हो सकता,तो अनादि प्रवाह रूप होने से सर्व प्रथम बीज या वृक्ष नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार अंडा या मुर्गी में प्रथम किसे कह सकेंगे ? किसी को भी नहीं । इसी प्रकार प्रथम सृष्टि रूप कार्य का कारण नहीं होगा तो सृष्टि रूप कार्य कैसे उत्पन्न हो सकेगा ? क्योंकि कारण बिना कार्य उत्पन्न नहीं होता है । अनादि से ऐसा कभी न हुआ है कि सृष्टि में मनुष्य न रहा हो, सूर्य न रहा हो, भले ही सूर्य एक साथ, एक समय में सभी पृथ्वी पर अपनी किरण न डाल सके किन्तु सूर्य ही न हो ऐसा समय नहीं खोज सकते । हाँ सूर्य दर्शन में अवश्य भुगोलिक परिस्थिति के कारण भेद है कहीं दिन तो कहीं रात्रि, कहीं प्रातः तो कहीं मध्यान, तो कहीं सन्ध्या, परन्तु सूर्य पूर्ण रूपेण आकाश में स्थित न हो यह कभी नहीं हो सकता । जब सूर्य सदा रहता है तो पृथ्वी भी अवश्य है, सृष्टि भी अवश्य है यदि पूर्व सृष्टि ही न रहे तो नूतन सृष्टि कैसे हो सकेगी ? अस्तु सृष्टिक्रम अनादि सत्य है ।

हे नित्यात्मन ! एक बात यह समझलेना चाहिये कि यह सृष्टिक्रम बन्ध्या पुत्र की तरह ही है क्योंकि अनादि प्रवाह को किसी ने देखा तो है नहीं फिर जो सृष्टिक्रम कहने चलेगा वह असत्य काल्पनिक ही होगा । जो न हो उसी को माया कहते हैं फिर उसी का क्रम जो कुछ भी कहा जावे वह मिथ्या ही है । अतः सृष्टिक्रम पर विवाद नहीं करना चाहिये । मनुष्य तो क्या ईश्वर ने भी सृष्टिक्रम को नहीं जाना । ब्रह्मा बेचारे चक्कर में पड़ गये गाय-बछड़े छिपाकर और विष्णु के पास जब ब्रह्मा प्रवेश पाने हेतु गये तब द्वारपाल ने पूछा कि तुम कहाँ के ब्रह्मा हो ? तो उनका सिर घूम गया कि क्या मेरे अलावा भी और कोई सृष्टि है, जो पूछा कि कहाँ के ब्रह्मा हो ? तात्पर्य यही

है कि जब ब्रह्मा ही सृष्टि का पार न पा सके तो और कौन कह सकेगा इस सृष्टि के रहस्य को ? सृष्टि उत्पति क्रम की कल्पना तो शास्त्रों में अज्ञानी हेतु की है जो वेदान्त विचार में गरीब है याने असमर्थ है उनके कल्याण हेतु लय चिन्तन बनाया याने ब्रह्म से शरीर तक आने का क्रम, दिखाकर पुनः शरीर की दृष्टि हटा कर ब्रह्म भाव में स्थित कराने हेतु । गीता अध्याय १५/३ में कहा कि जैसा सृष्टि का विषद वर्णन बतलाया जाता है वैसा ज्ञानकाल में ढूंढ़ने को भी प्राप्त नहीं होता है स्वप्नवत् जागने पर मिथ्या ही हो जाता है ।

पंच भूत की उत्पत्ति बताने वाले से या सृष्टि की उत्पत्ति बताने वाले से पूछा जाय कि भूतों की उत्पत्ति बिना किसी का देह तो बन नहीं सकता ? तब देह के अभाव में, इन्द्रियों के अभाव में आपने सृष्टि रचना का प्रारम्भ कैसे जाना, कैसे देखा ? व किस स्थान नर खड़े होकर देखा ? क्योंकि तब न पृथ्वी है, न वायु है, न तेज है, न आकाश है, न जल है, तब भूतों की अभावावस्था में आप किसके आधार से बने रहे ? व किस आँख से देखा ? अतः सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम कहना या उसके क्रम को बताना सब बच्चों को घर की बूढ़ी दादी की तरह कहानी सुनाने जैसा ही है । इसी तरह अज्ञानी को चुप करने हेतु ही यह बताया गया है ।

जैसे अग्नि की उष्णता उसका सहज नित्य स्वभाव है, जल की तरंगे उसका सहज नित्य स्वभाव है उसी प्रकार नित्य ब्रह्म का सृष्टि नित्य सहज स्वभाव है । सृष्टि जो पांच भूत मात्र है । ब्रह्म के विशेषण मात्र होने से ब्रह्म से भिन्न नहीं है जैसे व्यापक विशेषण परमात्मा का आकाश प्रत्यक्ष रूप है । इसलिए आकाश सृष्टि तत्त्व नहीं किन्तु परमात्मा का ही स्वभाव है । दूसरा पवन, चेतन विशेषण परमात्मा का है सृष्टि का नहीं, तीसरा तेज याने ज्योति परमात्मा का विशेषण है सृष्टि का नहीं, चौथा जल याने सर्वात्मभाव परमात्मा का विशेषण जल रूप से ही प्रत्यक्ष देखने में आता है, अन्य रूप से परमात्मा का सर्वात्मभाव नहीं देख सकते । जल को जिस आकृति के पात्र में डाल देंगे या जैसे स्थान पर बह कर जावेगा उसी अनुरूप हो जावेगा या

बहता हुआ निकल जावेगा । इसी प्रकार पांचवा पृथ्वी भी परमात्मा का आधार रूप विशेषण है जो सब कुछ अपने में धारण किये हैं । अब इन पांचों विशेषणों को किस प्रकार सृष्टि रूप माना जावे ? विशेषण विशेष्य से भिन्न नहीं होते हैं- जैसे अग्नि व उष्णता अभिन्न है । तेज व प्रकाश भिन्न नहीं इसी प्रकार पांच विशेषण परमात्मा रूप है परमात्मा पांच विशेषण रूप है । यदि देखा जाय तो पांच नहीं एक ही है क्योंकि कारण से कार्य पृथक् सत्ता वाला नहीं होता है । ''आकाशः सम्भूतः'' आकाश भूत के ही कार्य अन्य चार भूत श्रुति प्रमाणित है तो अन्य भूत भी आकाश रूप हुए और आकाश ब्रह्म का ही कार्य होने से ब्रह्म रूप हुआ तो इस प्रकार सब सृष्टि ब्रह्म रूप ही है । ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' यह वेद वाक्य प्रमाण ही है । एक ही वस्तु व्यापक, चेतन, स्वयं प्रकाश, सर्वात्म और सर्वाधार रूप है । अतः ब्रह्म सत्ता अपने आप में ही स्थित है । ऐसे अखण्ड स्वरूप में संशय करना अज्ञान मात्र है । इसलिए गुरु शरण में रहकर अपने संशयों को ज्ञान शस्त्र से छेदन कर अपने आप में ही स्थित हो जावें । सबसे भली चुप याने अपने को जानकर शांत हो जाओ ।

हे आत्मन् ! जैसे सत, चित, आनन्द अद्वैत वस्तु के विशेषण है उसी प्रकार जीव, ईश्वर और पंचतत्त्व भी ब्रह्म के विशेषण हैं । ईश्वर सत् स्वरूप है, जीव चित् स्वरूप है और पदार्थ आनन्द स्वरूप है और सत् जो है वही चित् होता है और जो सत् -चित् होता है वही आनन्द रूप होता है । इसलिए सच्चिदानन्द तीन पृथक् नहीं किन्तु अभिन्न, एक अद्वय ही है । इसलिए जीव, ईश्वर व पंचतत्त्व रूप सृष्टि भिन्न नहीं किन्तु एक ही है । जैसे दाहकता, उष्णता तथा प्रकाशता एक अग्नि के ही तीन विशेषण है, तीन वस्तु नहीं है एक ही सत्ता है । उसी प्रकार सत् स्वरूप ईश्वर, चैतन्य स्वरूप जीव तथा आनन्द स्वरूप सृष्टि भूत अद्वैत शुद्ध ब्रह्म के ही विशेषण है । इस प्रकार न कुछ उत्पन्न हुआ न किसी ने अपना स्वरूप बदला, न कुछ नष्ट होता है, न जन्म है, न मृत्यु, अद्वैत सत्ता ज्यों कि त्यों अपनें आप में स्थित हैं । जब

जीव, ईश्वर और पंचतत्त्व तीनों अनादि है तो उत्पत्ति नहीं बन सकती । जब उत्पत्ति ही नहीं तब किसे प्रथम सृष्टि कहे ?

गीता में कृष्ण कहते हैं-

''ममैवाशों जीवलोके जीवभूतः सनातनः''

१५/७ गीता

इस देह में यह जीवात्मा मेरा सनातन अंश है । अंश कभी अंशी से पृथक् नहीं होता । अंशी,अंश स्वरूप ही होता है । अतः जीव की नित्यता तो कृष्ण से ही सिद्ध है एवं अंश अंशी रूप घट-मिट्टी दृष्टान्त से एक ही सत्ता रूप सिद्ध हो जाते है याने जीव नित्य ब्रह्म रूप ही है । गीता २/१२ में भी कहा है न तो ऐसा ही है कि मैं नहीं था, न तू किसी काल में न था, न ये राजालोग जिनके लिए तू शोक कर रहा है कभी नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे । तेरे व मेरे में बस इतना ही अन्तर है कि तेरे व मेरे अनेकों जन्म होते रहने पर भी उन्हें तू नहीं जानता है किन्तु मैं जानता हूँ गीता ४/४ याने इस प्रकार सब एक नित्य शुद्ध ब्रह्म रूप ही अपने स्वभाव में स्थित हैं । बुदबुदा, फेन, भंवर रूप होना जल की ही क्रीड़ा मात्र है अद्वैत जल ही अपनी महिमा में स्थित है उसी प्रकार जन्म-मरण, भूख-प्यास, सुख-दुःख रूप में शुद्ध आत्म ब्रह्म ही अपनी महिमा में स्थित है । अर्जुन द्वारा युद्ध करा कर सब शरीरों का नाश हो जाने पर भी कृष्ण कहता है कि ऐसा मत सोचना कि हम सब आगे न रहेंगे इसे विचारे ।क्योंकि इस कथन से अपने आत्मभाव की ही सिद्धि होती है ।

प्रश्न-३ : ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर : अपने लिये नियत स्त्री अथवा पुरुष के अतिरिक्त अन्य पराई स्त्री या पुरुष के साथ अष्ट प्रकार में से किसी भी प्रकार का संग मन, वाणी, कर्म से न करना तथा अपनी स्त्री अथवा अपने पुरुष के साथ ही एक दूसरे की पूर्ण प्रसन्नता को लेकर शुद्ध सात्त्विक वृत्ति से नियमित रूप से संग करना

ही सच्चा शास्त्रिय ब्रह्मचर्य पालन करना है । परन्तु हठ करके अपनी स्त्री या अपने पुरुष की योग्य समय में भी मर्यादानुसार मैथुन न करना व मन से उनका चिन्तन कर ब्रह्मचर्य का अहंकार करना दंभ, पाखण्ड मात्र है; क्योंकि ऐसे हठी व्यक्ति उस भोग का ही चिन्तन करते हुए सदा व्याकुल रहते हुए कष्ट पाते रहते हैं और अपने देह के प्राकृतिक वेगों को रोककर नूतन रोग को स्थान देते हैं ।

केवल सत्कार की भावना से या सम्मान, प्रतिष्ठा, ख्याति, पूजा पाने की कामना से गृहस्थी न बन करके जन्म भर ब्रह्मचारी ही बने रहने का ढोंग करके सद्गृहस्थों के लिये भय, लोक-मर्यादा उल्लंघन एवं लोक-संग्रह में बाधक होना यह ब्रह्मचर्य का कर्तव्य नहीं किन्तु मिथ्याचार है । कृष्ण गीता में कहते हैं कि-

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।

- गीता ३/६

जो मूढ़ बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ से रोककर इन्द्रियों के भोगों को मन से चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी अर्थात् ढोंगी ब्रह्मचारी है ।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियभ्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।

- गीता ३/७

परन्तु जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अर्थात् मन व इन्द्रियों के आधीन न होकर स्वेच्छाचारी न बनकर अनासक्त हुआ मर्यादा में रहकर इन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है ।

किन्तु जो लोग अपने प्राकृतिक अनिवार्य इन्द्रियों के वेगों को रोकने में लगे रहते हैं वह उन इन्द्रियों के इर्द-गिर्द ही तैली के बैल की तरह चारों ओर घुमा करते हैं; क्योंकि जिससे आपको शत्रुता रखनी होगी, उसके

साथ संघर्ष करने हेतु वहीं उसके पास रुकना पड़ेगा, अटकना पड़ेगा और अपने मुख्य लक्ष्य से फिर भटकना ही पड़ेगा । संघर्ष करके जितनी काम शक्ति को आप बचाना चाहते हैं उससे कई गुना शक्ति रोकने के श्रम में नष्ट करना पड़ेगी । तब सोचिये आप घाटे में रहेंगे या फायदे में ? पाँच मिनट के श्रम से बचने हेतु यदि २३ घन्टे व ५५ मिनट आपको अपने इन्द्रियों व मन से संघर्ष करते रहना पड़े तो फिर आप जिस लक्ष्य के लिये मन को पवित्र या ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करा रहे थे वह कार्य कब व किस मन से करावेंगे ? इसलिये कृष्ण कहता है कि वह आत्मयोग तो-

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नाव बोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।

- गीता ६/१७

यथा योग्य आहार विहार करने वाले का, कर्मों में यथा योग्य चेष्टा करने वाले का, यथा योग्य शयन करने वाले तथा यथा योग्य जागने वाले का ही सिद्ध होता है । इस प्रकार यथा योग्य कार्य करने वाले तथा भोगने वाले व्यक्ति का ही मन समाधिस्थ हो पाता है अन्य का नहीं ।

पति-पत्नी का विशेष सम्बन्ध केवल स्थूल शरीरों का है और वह सम्बन्ध यहाँ ही जोड़ा जाता है । आगे-पीछे के शरीरों में उनका कोई तालमेल नहीं बैठता । स्त्री-पुरुष के विवाह सम्बन्ध प्राकृतिक वेगों की मर्यादित रूप से शान्ति के लिये है । दोनों एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए एक दूसरे की सहायता से मनुष्य देह के वास्तविक ध्येय सच्चे आत्म सुख को प्राप्त करना है । समाज को सुव्यवस्थित रखकर पतन से बचाने के लिये, एक पुरुष का एक ही स्त्री से सहवास कर जीवन यात्रा करने के नियम प्रत्येक सभ्य समाज में अपनी परिस्थिति के अनुकूल बने हुए हैं । केवल आधिभौतिक उन्नति को ही सच्ची उन्नति तथा केवल आधिभौतिक शरीर के सुखों को सच्चा सुख मानने में ही विवाह सम्बन्ध की सार्थकता नहीं है, बल्कि आत्मिक उन्नति के लिये ही यह शारीरिक सम्बन्ध है । इस प्रकार

के लक्ष्य को लेकर भोग मैथुन करना लोक संग्रह में सहयोग देना है, उपकार करना है, यज्ञ करना ही है । देखिये कृष्ण इस प्रकार के शुद्ध आचरण वालों के लिये मैथुन धर्म रूप कह रहे हैं-

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।

- गीता ६/४१

जो योग भ्रष्ट पुरुष पूर्व जन्म में वेदान्त श्रवण, मनन करते हुए भी प्रारब्ध प्रतिबन्धक दोष के कारण दृढ़ ज्ञान को प्राप्त नहीं हुआ, ऐसा पुरुष पुण्यवानों के लोक में जाकर भोगों को भोग कर शुद्ध आचरण से रहने वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में अपने आत्मकल्याण हेतु पुनः जन्म लेता है ।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।

- गीता ६/४२

अथवा कोई मंद बुद्धि वैराग्यवान पुरुष अपने आत्म स्वरूप में दृढ़ता न कर सका तो वह उन धनाढ्य कुलों में न जाकर बल्कि ज्ञानी योगियों के घर में जन्म लेता है । परन्तु इस प्रकार का जो जन्म है वह संसार में दुर्लभ है ।

अब यहाँ विचार करें कि यदि अच्छे आचरण वाले धर्मपरायण सात्त्विक पुरुष अपने गृहस्थ धर्मरूप मैथुन का परित्याग कर दें तो भोग की आकांक्षा से पूर्व शरीर में ज्ञान दृढ़ न होने के कारण योग भ्रष्ट हुआ जीव किस घर में आकर अपनी भोग की वासना को तृप्त कर आगे ज्ञान मार्ग में बढ़ने का अवकाश प्राप्त कर सकेगा ? बुद्ध भगवान ऐसे ही भूमिका वाले जीव रहे थे, जिनको अवतरित होने में राजा सिद्धार्थ ने अपनी योग्य भूमिका का अभिनय पूरा किया था ।

उसी प्रकार जब कोई वैराग्यवान् जीव बुद्धि की मन्दता दोष अथवा

प्रारब्ध दोष के कारण वेदान्त के श्रवण, मनन से अपने स्वरूप की दृढ़ता को प्राप्त न हुआ तो वह देह छूटने पर भोगों की अधिकता वाले परिवार में जन्म न ले ज्ञान की भूमिका को आगे बढ़ाने वाले परिवार में ही आने की इच्छा करेगा । तब ऐसे योग भ्रष्ट वैराग्यवान् जीव को कोई ज्ञानी, योगी सद्गृहस्थ परिवार ही अवतरित कराया जासकता है । अब यदि ज्ञानवान योगी पुरुष मैथुन धर्म को पाप रूप कार्य माने तो वह वैराग्यवान् योग भ्रष्ट जीव क्या कूकरी, शूकरी वत् भोगी कुल में जन्म लेकर अपना शेष कार्य पूरा करेगा ? समाज द्वारा ब्रह्मचर्य का यथार्थ रूप न जानने के कारण ही ज्ञानीजनों द्वारा मैथुन धर्म बंद कर देने के कारण ही योग भ्रष्ट जीवों को कसाई, चमार, जाट आदि अन्य निम्न योनियों में आना पड़ा । प्रहलाद, नारद, जाबाल, कबीर, रैदास, सदनादि प्रमाण है, क्योंकि इन बेचारों को यथायोग्य भूमि अवतरित होने को नहीं मिली थी ।

अतः प्रत्येक ज्ञानी, योगी, सदाचारी,धर्मपरायण, गृहस्थों को ऐसे योग भ्रष्ट जीवों का आवाह्न कर मैथुन करना भी यज्ञ में आहुति देना है । क्योंकि अग्नि के चार मुख कहे गये हैं । पृथ्वी रूप अग्नि में बीज की आहुति से फसल रूप फल की उत्पत्ति होती है । मुख रूप अग्नि में भोजन रूप आहुति से बल, बुद्धि रूप फल की उत्पत्ति होती है । अतिथि रूप अग्नि को सेवा शुश्रुषा रूप आहुति से प्रसन्नता सहयोग एवं पुण्य रूप फल की उत्पत्ति होती है तथा स्त्री योनि रूप अग्नि में वीर्य रूप बीज की आहुति से संन्तान रूप फल की प्राप्ति ही सच्चा यज्ञ एवं उसमें आहुति होम है । अग्नि में केवल उत्तम पदार्थों का हवन करना मूर्खों का चलाया हुआ यज्ञ है ।

यदि मैथुन करना महापाप रूप कार्य होता तो सर्वज्ञ परमात्मा मैथुन इन्द्रियों का निर्माण ही क्यों करता ? फिर स्त्री लिंगद्वार योनि की तरह पुरुष लिंग भी भीतर की तरफ केवल छिद्र रूप मूत्र त्याग हेतु होना था, किन्तु स्त्री लिंग की भीतरी गहराई के अनुरूप ही पुरुष लिगं का बाहर की ओर निकला न होता । लिंग व्यवस्था सर्वज्ञ ईश्वर की ही है किसी अल्पज्ञ मनुष्य की

नहीं है । यदि मैथुन पाप होता तो वैदिक मर्यादित मैथुन क्रिया युक्त जीवन को गृहस्थ धर्म की संज्ञा कदापि प्रदान नहीं की जाती । मैथुन धर्म यदि पाप रूप होता तो फिर अवतारी पुरुष मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम,कृष्ण, पराशर से ऋषि जनक जैसे विदेह मुक्त भी गृहस्थ जीवन का आचरण नहीं करते बल्कि सभी संन्यासी ही रहते और जब गृहस्थाश्रम धर्म की व्यवस्था ही न होती तो इस सृष्टि की किसी प्रकार उन्नति ही नहीं होती ।

मरने पर प्रत्येक शरीर की राख ही बनती है चाहे भोगी हो या योगी । अतः प्रकृति से प्राप्त शक्तियों का उचित उपयोग कर सृष्टिचक्र में सहयोगी बनना ही विवेक है । यही प्रजापति द्वारा चलाया यज्ञ है, यही परमात्मा की सच्ची पूजा भक्ति है और यही सच्चा ब्रह्मचर्य है । केवल वीर्य बिंदु के स्खलन न होने को ही ब्रह्मचर्य कहा जावे तो रोगी नपुंसक(हींजड़े) तथा मयुरादि भी मोक्षगामी हो जावेंगे ? अतः ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ ब्रह्मभाव में विचरण करते हुए अपने गृहस्थ जीवन के यथोचित पालन करने में है । यदि संन्यासी ज्ञानी, योगी आदि गृहस्थाश्रम धर्म में प्रवेश कर जावे एवं अपनी स्त्री से भोग करें तो उसके बच्चे ज्ञानी, योगी ही बनेंगे । अस्तु बीज व भूमि दोनों का महत्व किसी से कम नहीं कहा जा सकता । अकेली स्त्री और अकेला पुरुष कुछ नहीं कर सकता । स्त्री अपने स्त्री धर्म रूपी पटरी पर चले व पुरुष अपने पुरुष धर्म रूपी पटरी पर चले तो जीवन रूपी गाड़ी जल्दी ही बिना रुकावट के अपने लक्ष्य अखंडधाम, आनन्दधाम को प्राप्त हो जाती है ।

कामरूप शत्रु को मारने या मुकाबला करने में गृहस्थ जीवन राजकिला रूप है । बिना गृहस्थ जीवन के खुले मैदान में कामरूप शत्रु से चारों ओर से आक्रमण होने का व परास्त होने का सदा ही भय बना रहता है । अतः स्त्री हो या पुरुष दोनों को सदा गृहस्थ रूप किले का ही आश्रय लेकर अपने काम, क्रोध, लोभ, मोह रूप शत्रुओं से मुकाबला करना चाहिये । चार आश्रमों में गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ कहा है ।

यदि वीर्य बिन्दु के बचाने को ही ब्रह्मचर्य मान लेंगे तो कोई भी गृहस्थ योग के साधन का अधिकारी नहीं हो सकेगा । तब फिर योग कुछ विरक्त संन्यासी अथवा ब्रह्मचारी आश्रमी लोगों तक का ही सीमित साधन बनकर रह जावेगा । ब्रह्मचर्य का अर्थ यह कदापि नहीं है जो लोगों ने मान रखा है । श्रीकृष्ण, राम, याज्ञवल्क्य, जनक, व्यास आदि गृहस्थ ही थे तो क्या ये योगी नहीं थे ? क्या इन्हें कोई भोगी कहने का भी साहस कर सकता है ? श्रीकृष्ण को तो महान योगी ही नहीं योगेश्वर कहा जाता है; जबकि उनकी अष्ट पटरानी तथा राधा आदि प्रसिद्ध प्रेमिकाओं का भागवत आदि शास्त्रों में प्रमाण मिलता हैं । अतः अवश्य वे योगी ही थे व आज भी उनके मार्ग का अनुसरण कर कोई भी गृहस्थ सच्चा योगी हो सकता है । मनु स्मृति में तो अपनी स्त्री से ऋतुकाल के बाद उसकी प्रसन्नता तथा उत्तम संतान की कामना से प्रेरित होकर मैथुन करने वाले एक स्त्री निष्ठ पुरुष को ब्रह्मचारी कहा है ।

ब्रह्मचर्य में ब्रह्म तथा चर्य इन दोनों शब्दों में से किसी का अर्थ स्त्री से सर्वदा अलग रहना अथवा विवाह न करना नहीं है । ''ब्रह्म'' का अर्थ तो अपनी व्यापक आत्मा ही है । ''चर्य'' का अर्थ पालन करना या धारण करना, निदिध्यासन करना या अनुसरण करना है । वह ब्रह्म आत्मा का नाम ही है । ''अयमात्मा ब्रह्म'' यह महावाक्य अथर्व वेद के माडूक्योपनिषद् के अन्तर्गत आता है । दूसरा महावाक्य यजुर्वेद बृहदारण्यक उपनिषद में ''अहं ब्रह्मास्मि'' के रूप में आता है, जिससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्म पद आत्मा का बोधक होता है । इसको जानने हेतु यत्न करना, सत्संग करना, स्वाध्याय करना ही ''चर्य'' का अर्थ है ।

हर समय अपनी आत्मा की महानता, अजरता, अमरता, सच्चिदानन्दता, ध्रुवता, कूटस्थता आदि का स्मरण करते रहना तथा हृदय से भय, कायरता और अपूर्णता को निकाल कर नवीन उत्साह व बल को धारण करते रहने का नाम ही ब्रह्मचर्य पालन करना है । अर्थात् ब्रह्म विचार

में विचरण रूप कर्म ही वास्तविक रूप में ब्रह्मचर्य है । एक संत कहते है-

''दास गरीब'' जो ब्रह्म में विचरे,
सो पक्के ब्रह्मचारी रे''
''ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचारी''

ब्रह्म और आत्मा एक ही तत्त्व के दो नाम है और वह मैं हूँ ऐसा निश्चय ही ब्रह्मचर्यता है । दासभाव रखना तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना याने वीर्य बिन्दु को स्खलित न होने देने का नाम ब्रह्मचर्यता नहीं है । वह तो पशुता ही है । भेद-भक्ति करने वाले को बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण के दशम मंत्र में देवताओं का पशु ही कहा है, जो दासभाव में जी रहा है एवं अपने आराध्य, उपास्य, इष्ट देवता, भगवान को अपने से पृथक् मान रहा है ।

मन को विषयों के चिन्तन या देह भाव से खींचकर उर्ध्वगामी बनाना याने अपने सच्चे स्वरूप आत्मा में स्थित रहना और यह समझना कि मैं आत्मा ब्रह्म हूँ, महान हूँ, पवित्र हूँ, नित्य हूँ, व्यापक हूँ यही चिन्तन ब्रह्मचर्य का पालन या उर्ध्वरता होना है । अन्यथा मात्र वीर्य बिन्दु को रोकने वाले पहलवानादि मूढ़, क्रोधी, लड़ाकू,शराबी, मांसाहारी ही पाये जाते हैं । दया, ममता, प्रेम, सहिष्णुता, अपरिग्रहता, अंहिसा, अक्रोध, अमान, अदंभ आदि सद्गुणों की उत्पत्ति तो सत्संग द्वारा ही मानव में आती है, केवल वीर्य बिन्दु को उर्ध्वगामी कर लेने याने स्खलित होने से रोक लेने मात्र से उपरोक्त दैवी सम्पदा रूप ब्रह्मचर्यता नहीं आती । हाँ वीर्य बिन्दु को नष्ट नहीं होने देने वाले अभ्यासी आधकों की शारीरिक तन्दुरूस्ती अवश्य अन्य मानव की अपेक्षा अच्छी रहती है, किन्तु रोग-भोग तो जो प्रारब्ध से निश्चित है वह अवश्य सबको भोगना ही पड़ता है । फर्क इतना ही है कि एक अज्ञानी छोटे-छोटे रोगों में अधैर्य बन जाता है व एक ज्ञानी बड़-बड़े रोगों को भी साहस से भोग लेता है ।

देहघरे का दंड है सब काहू के होय ।
ज्ञानी भुगते ज्ञान से मुरख भुगते रोय ॥

प्रश्न-४ : जाग्रत अवस्था में सुषुप्ति की तरह समाधि किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ?

उत्तर : आत्मा में समाधि नित्य ही है । समाधि नाम एकरूपता, स्थिरता, निर्विकारता, असंगता आदि से है । यह तो बिना प्रयास के स्वतः सिद्ध ही है । वैसे समाधि चित्त की अवस्था है । जब तक शरीर में प्राणों की चेष्टा है, तब तक चित्त भी अपने स्वभाव अथवा धर्म में प्रवृत रहता है । परन्तु ज्ञानवान अपने को साक्षी आत्मा जानकर चित्त के धर्मों से न्यारा रहता है । इस प्रकार का निश्चय ही निर्विकल्प समाधि है ।

यदि यह माना जाय कि जब ध्यानावस्था या समाधि में हम बैठें उस समय किसी प्रकार के इन्द्रिय विषय का ज्ञान न हो, तो ऐसी जड़ता तो पत्थर, लकड़ी, मकान, कपड़ों, बर्तनों, खाने के पदार्थों तथा अन्य समस्त निष्प्राण वस्तुओं में सदैव बनी ही रहती है । तो क्या इनकी यह जड़ अवस्था समाधि मानी जा सकती है ? क्या इनको मोक्ष मिल सकेगा ? नहीं ! यह तो जड़ पदार्थ है उनमें ज्ञान शक्ति का अभाव है इसलिये उनकी यह अवस्था समाधि रूप नहीं हो सकती । इसी प्रकार की जड़ एवं निष्क्रिय अवस्था, प्राणधारी जीव को प्राप्त नहीं हो सकती । क्योंकि जब तक प्राण आते-जाते हैं तब तक अन्तःकरण में चेतन का स्फूरण बना ही रहता है । वह चेतन का आभास अपने प्रकाश रूप धर्म में प्रवृत्त होकर सब इन्द्रियों को अपने अपने विषयों के ज्ञान में प्रेरित करता है । इस प्रकार जब तक देह प्राण का संयोग है, तब तक जो विषय वस्तु इन्द्रियों के सामने आवेंगी, इन्द्रियों को उनका ज्ञान होगा ही । जैसे शब्द, श्रोत्र इन्द्रिय के संयोग को प्राप्त होगा तो उसे शब्द का ज्ञान चिदात्मा द्वारा बुद्धि में हुए बिना नहीं रह सकता ।

इन्द्रियों के पृथक् -पृथक् ज्ञान होने से अद्वैत ज्ञान निश्चय में कोई

बाधा नहीं होती है, क्योंकि यह भेद ज्ञान केवल अन्तःकरण उपाधि से होता है । सुषुप्ति में यह अन्तःकरण वृत्तियाँ अपने कारण अज्ञान में लय हो जाती है, इसलिये कोई भी विषय एवं ज्ञान की प्रतीति नहीं होती है । आत्मा में इन इन्द्रिय विषय ज्ञान की कल्पना नहीं वह तो सामान्य ज्ञान सत्ता के रूप में विद्यमान रहती है ।

निश्चय करें कि आत्मा सदा अद्वैत रूप है और मेरा अपना आप है । शरीर, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण और विषयों का ज्ञान मेरे में कल्पित है इसलिये मिथ्या है । जो कुछ भी अन्तःकरण द्वारा इन्द्रियों का ज्ञान होता है वह मेरे ही प्रकाश से प्रकाशित होता है । मेरे प्रकाश के बिना कोई भी पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता और मैं नित्य हूँ, तीनों कालों में सम हूँ, किन्तु इन्द्रिय ज्ञान जाग्रत या स्वप्न में ही है । समाधि, शून्यता, मूर्च्छादि अवस्था में नहीं होता इसलिये मिथ्या है, कल्पित है ।

तुम जो आत्मा में इस प्रकार की स्थिति का प्रश्न उठाते हो तो तुम अपने को क्या वस्तु समझकर उठाते हो ? अर्थात् शरीर, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण या आत्मा समझकर उठाते हो ? यदि शरीर, प्राण, अन्तःकरण अपने को निश्चय कर समाधि में स्थित होना चाहते हो तो आत्म-दर्शन तुमको कभी प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि इन पदार्थों का सम्बन्ध आत्मा में अनात्मा की भ्रान्ति उत्पन्न करता है याने इनके सम्बन्ध से मैं आत्मा हूँ ऐसी प्रतीति नहीं होती । यदि अपने को आत्मा समझकर आत्मा में स्थित होना चाहते हो तो यह ऐसी ही व्यर्थ कामना है कि कोई खड़ा हुआ व्यक्ति यह कहे कि मैं अपने पैरों के सहारे किस प्रकार खड़ा हो सकूँगा ? आत्मा नाम अपने आप का है और अपना आप कदाचित अपने आपको त्याग कर दूसरे स्थान में नहीं रहता । जब तुम्हें अपने आप में संशय हुआ है तो इस द्वैत रूप भ्रान्ति को निवृत्त किये बिना और कोई उपाय आत्म स्थिति का नहीं है । अपने आपके अज्ञान से ही निर्विकल्प स्थिति की कामना होती है । जब तुमको अपने अखण्डता, पूर्णता का ज्ञान होगा तब कोई अवस्था अथवा देश, काल

तथा वस्तु तुम्हारे स्वरूप में इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न नहीं करा सकेगी कि अब मैं कुछ और हो गया हूँ अथवा मुझको कोई नवीन अवस्था प्राप्त हो गई है या हो जावे अथवा मुझे मूढ़ता या जड़ता प्राप्त कैसे हो ? स्वरूप ज्ञान होने पर तो सदा अपने आपको अपने आप में निश्चय करके अपने आप में मग्न रहोगे । आत्मा में समाधि उसी प्रकार कल्पित है जैसे विक्षिप्तता । इसलिये तुम समस्त संशयों को त्याग कर मैं निर्विकल्प, निर्विघ्न, निर्वाण, अगम, अपार रूप आत्मा हूँ ऐसा निश्चय दृढ़ करो जिससे देह में सब क्रियाओं के होते हुए भी तुम अपने आपको अकर्ता, असंग, कुटस्थ, निर्विकार केवल साक्षी मात्र अनुभव कर सकोगे ।

तुम अनात्म शरीर दृष्टि छोड़कर चिदाकाश रूप आत्मा पर दृष्टि रखो और उस आत्मा को खण्ड-खण्ड न मानो, बल्कि अखंड, अद्वैत और समान निश्चय करो और फिर वह आत्मा अपने आपको मानो और अनुभव करो कि मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सबमें मैं ही पूर्ण हूँ । अर्थात् सब रूप मेरे ही है यह भावना ही निर्विकल्प समाधि है । जैसे स्वर्ण में अलंकार कल्पित हुए हैं उसी प्रकार आत्मा में मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग कल्पित हुए हैं । जैसे आभूषणों के भेद होने पर भी स्वर्ण में भेद नहीं आता वैसे ही शरीरों के भेद से मुझ आत्मा में द्वैत नहीं आता ।

जाग्रत में सुषुप्ति रूप होने का प्रयोजन यह नहीं है कि सुषुप्ति अवस्था की तरह सब इन्द्रिय और अन्तःकरण जड़ हो जावें । बल्कि ज्ञान की ऐसी दृढ़ता हो कि शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरण के होते हुए भी इनकी सत्यता मन, बुद्धि में न रहे और इनके शुभ और अशुभ कर्मों में कर्ता बुद्धि उत्पन्न न होकर राग-द्वेष न हो, अपना वास्तविक साक्षी स्वरूप ही अपरोक्ष रहे ।

सुषुप्ति में सब इन्द्रियाँ और अन्तःकरण अज्ञान में लीन होकर जड़ रूप रहते हैं; क्योंकि अज्ञान जड़ है और सुषुप्ति के टूटने पर पुनः सब इन्द्रियाँ

अपने अपने कार्य में सावधान हो जाते हैं । परन्तु ज्ञान रूप समाधि में इन्द्रिय और अन्तःकरण के धर्मों से बन्धन रूप अहंभाव निवृत्त हो जाता है वह फिर कभी कर्तव्य निष्ठा में प्रवृत्त नहीं होता है । इसलिये ज्ञान रूप समाधि, सुषुप्ति तुल्य जड़ता समाधि से अति उत्तम है । तुम नित्य प्राप्त अपने वास्तविक स्वरूप में निश्चय रखो, यही केवल सहज समाधि रूप है । दूसरे के धर्मों को अपने में आरोपित कर क्यों व्यर्थ दुःखी या चंचल होते हो ? तथा व्यर्थ समाधि का यत्न कर मन को क्यों शोक के सागर में डुबाते हो ? क्योंकि ऐसी समाधि जिसे तुम चाहते हो वह शरीर पर्यन्त प्राणों के संयोग रहते तक किसी को भी प्राप्त नहीं हो सकती ।

यदि प्राणायाम की युक्ति से कुछ काल शरीर से जड़ता हो गई तो भी वह अधिक काल नहीं रहेगी । क्योंकि शरीर तो प्रारब्ध भोग हेतु खड़ा है वह उसे पुनः नीचे उतार देगा । प्रति रात्रि सुषुप्ति जड़ता से जाग्रत होने की तरह और उसी समय सब भेद रूप जगत् भासने लगेगा । तो उस हठ समाधि का आनन्द क्षण भंगुर हुआ और उसका प्रयत्न भी निरर्थक हुआ । अतः अपने साक्षी रूप में ही सदा अलमस्त रहो ।

प्रश्न-५ : परमात्मा साकार है अथवा निराकार ?

उत्तर : परमात्मा निराकार है, क्योंकि जो साकार होता है वह एकदेशीय होता है, व्यापक नहीं हो सकता । तथा जो व्यापक नहीं होता है उसमें सर्वज्ञादि गुण भी नहीं घट सकते; क्योंकि सीमित(परिमित) वस्तु के गुण, कर्म, स्वभाव भी परिमित रहते हैं तथा वह गर्म-सर्द, भूख-प्यास,जन्म-मरण, सुख-दुःखादि धर्मों वाला होता है । इससे यही निश्चित है कि परमात्मा निराकार है । जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आंख, दिमाग बनाने वाला अन्य कोई ईश्वर होना चाहिये । क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है, उसको संयुक्त करने वाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिये । यदि कहो कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप ही आप अपना शरीर बना लिया तो

भी यही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने से पूर्व, अवतार लेने से पूर्व ईश्वर निराकार ही था । अतःपरमात्मा निगुर्ण निराकार ही है ।

प्रश्न-६ : परमेश्वर अपना अन्त जनाता है या नहीं ?

उत्तर : परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है । ज्ञान उसको कहते हैं कि जो पदार्थ जिस प्रकार का हो उसको उसी प्रकार जान लिया जावे । जब परमेश्वर अनन्त है तो अपने को अनन्त ही जानना ज्ञान है, उससे विपरीत जानना ही अज्ञान है । अनन्त ने अन्त जान लिया तब वह अनन्त सिद्ध कैसे हो सकता है ? अनन्त को सान्त तथा सान्त को अनन्त जानना भ्रम कहलाता है । ''यथार्थदर्शनं ज्ञानमिति'' जिसका जैसा गुण, कर्म, स्वभाव हो उस पदार्थ को वैसा ही जानना व मानना ज्ञान है । उल्टा जानना ही अज्ञान है । सर्वत्र पूर्ण होने से परमात्मा का नाम पुरुष और शरीर में शयन करने से जीव का नाम भी पुरुष है ।

प्रश्न-७ : परमात्मा अवतार लेता है या नहीं ?

उत्तर : परमात्मा व्यापक तथा कूटस्थ है इसलिए वह जन्म ग्रहण नहीं कर सकता । प्रकृति परिणामी होने से वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूप में प्रकट होती है किन्तु पुरुष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूप में कभी भी प्रकट नहीं होता सदा कूटस्थ निर्विकार ही रहता है । जहाँ भी प्रकट होना या अवतार होना होता है वह प्रकृति का है, पुरुष का नहीं ।

प्रश्न-८ : भक्तों की रक्षा तथा दुष्टों के नाश हेतु परमात्मा का अवतार होता है या नहीं ?

उत्तर : वेदार्थ के न जानने वाले सम्प्रदायी एवं अज्ञानी लोग ही ऐसी अप्रमाणिक बातें करते और मानते हैं । प्रथम जो जन्मा है वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है । जो ईश्वर अवतार लिये बिना जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता है उसके सामने कंस और रावणादि एक चींटी के समान भी नहीं है । यह सर्व व्यापक होने से कंस-रावण, हिरण्याक्ष आदि के शरीरों में भी

परिपूर्ण हो रहा है, जब चाहे उसी समय प्राणगति को अटका कर मृत्यु कर सकता है । भला इस अनन्त गुण, कर्म, स्वभावयुक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव को मारने के लिए जन्म-मरण युक्त वाले अवतार को ग्रहण करना पड़ता हो यह बात हास्यप्रद ही है । यदि कहें कि भक्तजनों के उद्धार करने केलिए जन्म लेता है । तो भी सत्य नहीं, क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं उनके उद्धार करने का सामर्थ्य अन्तर्यामी ईश्वर में है । क्या अजन्मा ईश्वर को पृथ्वी, सूर्य,चन्द्र, पवन, जलादि बनाने तथा जगत् के उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय आदि महान् कार्यों के करने के सम्मुख रावण, कंसादि दुष्टों को मारना, गोवर्धन पर्वत उठाना कोई मुश्किल कार्य है ? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कार्यों का विचार करे तो ''न भूतों न भविष्यति'' ईश्वर के समान न कोई है न होगा । और युक्ति से भी ईश्वर के जन्म की सिद्धि नहीं होती । जैसे कोई कहे कि अनन्त आकाश गर्भ में आ गया और मुट्ठी में घेर लिया ऐसा कहना ही मूर्खता है, क्योंकि आकाश अनन्त, सूक्ष्म तथा व्यापक है इससे आकाश न बाहर आता है न भीतर जाता है, इसी प्रकार अनन्त परमात्मा का अवतार लेना, आना जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता । जाना व आना वहाँ हो सकता है, जहाँ वह न हो । क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आ गया ? और क्या बाहर नहीं था जो गर्भ से बाहर निकला और ''प्रकट कृपाला दीन दयाला'' रूप में प्रसिद्ध हुआ । ऐसा ईश्वर के सम्बन्ध में कहना और मानना विवेक के सिवाय और कौन कह व मान सकेगा ? इसलिए परमेश्वर का आना-जाना, जन्म-मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकते । अतएव कृष्ण, राम,ईसा, महावीर आदि भी ईश्वर के अवतार नहीं है ऐसा निश्चित रूप से जान लेना, समझ लेना चाहिये । बल्कि वे प्रसिद्ध अवतार राग-द्वेष, क्षुधा, तृषा, भय,शोक, दुःख-सुख, जन्म-मरण आदि गुण युक्त होने से प्रसिद्ध श्रेष्ठ राजा थे । श्रीकृष्ण, राम, नाम के धार्मिक पुरुष होने से वे देशभक्तों की तरह धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग-युग में जन्म लेकर सदाचारी धार्मिक पुरुषों की रक्षा करूँ और दुष्टों

का नाश करुँ, जैसे धर्मी राजा करते आये हैं । परोपकार के लिए सत्पुरुषों का तन, मन, धन होता है । किन्तु इससे श्रीकृष्ण, राम, महावीर, ईसा आदि ईश्वर नहीं हो सकते हैं और तत्त्व दृष्टि से तो चूहा, बिल्ली, कूकर, सूकर, कीट, पतंगादि सभी जड़-चेतन ब्रह्म ही है " सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "नेह नानास्ति किंचिन" अन्य कुछ नहीं है ।

प्रश्न- ९ : मन बहुत चंचल है और यह किस प्रकार वश में किया जावे ?

उत्तर : मन का स्वभाव याने स्वरूप संकल्प-विकल्प है इसे फुरना भी कहते हैं एवं संकल्प देह प्राण पर्यन्त अपनी चेष्टा युक्त रहता है । जब तक प्राण शरीर में आ-जा रहे हैं तब तक मन का यह स्वभाव भी चलता ही रहेगा ।

मन को वश में करने के कुछ प्रयोग यहाँ बतलाये जाते हैं उनमें प्रथम विवेक है । अर्थात् नित्य-अनित्य का भेद ज्ञान ।

जब मन फुरने लगे, तब विचार करें कि मन नित्य आत्मा की और फुर रहा है या अनित्य देह की ओर ? यदि मन नित्य आत्मा की ओर फुर रहा है तो वह मन का फुरना या चचंलता नहीं है वह तो आत्मा का ही ध्यान है । उसे उत्तम जानकर उससे आत्म स्थिति का लाभ उठावें । यदि मन अनित्य देह के सम्बन्ध में संकल्प उठा रहा है तो इसे निम्न विचार से रोकने की चेष्टा करना चाहिये ।

चंचलता को दूर करने का उपाय इस प्रकार है कि जो देह जन्म के पूर्व नहीं थी और मृत्यु उपरान्त नहीं रहेगी, केवल मध्य में बिजली की चमक की तरह क्षण स्थायी है, ऐसी अनित्य देह की चिन्ता करके तू क्यों क्लेश पाता है ? शरीर अविद्या अथवा भूतों से रचा हुआ है और मन भी अविद्या तथा भूतों से रचित है, इसलिए मन की शरीर के साथ अभिन्नता है, मित्रता है व रहेगी; किन्तु मैं तो अविद्या तथा भूतों से रहित हूँ । अतः शरीर व मन

से तो मैं न्यारा हूँ । मेरी सत्ता के बिना इस मन का कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता है; क्योंकि जड़ है । जैसे सूर्य की उष्णता से आतशी शीशा दाह शक्ति प्रगट करने में समर्थ होता है वैसे ही मेरी सत्ता से इसके मनोरथ सिद्ध होते हैं । यदि मैं तुझे सत्ता न देउँ तो तू अपने मनोरथ को सिद्ध भी नहीं कर सकता है, चाहे जितना तू फुरता रह । अब मैंने अपने आपको पहचान लिया है कि मैं चैतन्य-रूप, स्वयं प्रकाश, कूटस्थ आत्मा हूँ ।

हे मन ! अब तेरी चंचलता से, तेरे संकल्प से मेरे स्वरूप में किसी भी प्रकार की न्यूनता, हानि नहीं हो सकती । जैसे नदी के प्रवाह के मध्य स्थित विशाल चट्टान को जल अनेकों चोंटे लगाता रहे किन्तु उस चट्टान को कुछ भी क्षति नहीं पहुंचा सकता । तैसे मैं कुटस्थ, साक्षी, द्रष्टा आत्मा अपने आप में पूर्ण हूँ । मन की फुरना मेरी किसी प्रकार क्षति नहीं कर सकता । जब तक मुझे अपने आप का स्मरण नहीं था तब तक ही तेरे दाँव-पेंच में आकर मैं दीन-दुःखी होता रहा । अब सद्गुरु की कृपा से मुझे अपने वास्तविक द्रष्टा स्वरूप का बोध हो गया है इसलिए अब मुझे तेरी तनिक भी चिन्ता एवं भय नहीं है तू चाहे जहाँ भ्रमण कर । इस प्रकार से विचार करते रहने से यह मन स्वाभाविक रूप से स्थित हो जावेगा ।

दूसरी पद्धति विचार करने की इस प्रकार कि है जब मन संकल्प उठावे तब विचार करें कि इसका संकल्प भूतकाल का है अथवा भविष्यकाल का ? यदि भूतकाल संकल्प हो तो मन को इस प्रकार समझावे कि हे मन ! वह समय बीत गया, वह कार्य भी हो गया, वह देश भी नहीं रहा और वह मनुष्य भी मर गया । तू मूर्खों की तरह उनकी चिन्ता कर बन्दर की तरह क्यों भटकता फिरता है ? अब वह समय हाथ नहीं आने वाला और न वह बिगड़ा हुआ कार्य बनने वाला है, अब तो कुछ भी नहीं हो सकता है इसलिए तेरा चिन्तन निरर्थक है । इस विचार के बल से भूतकाल के संकल्प का त्याग करें ।

यदि मन भविष्यकाल की सोच कर रहा हो तो उसे समझावें कि हे मन ! जिस देह के निमित्त तू आगे की चिन्ता करता है वह देह क्षण भंगुर है । अतः भविष्य सम्बन्धी तेरी चिन्ता व्यर्थ है । नश्वर वस्तु के निमित्त चिंता करनी भी मूर्खता ही है । इस विचार के बल से भविष्य की चिन्ता से मन को उपरत रखें । जब भूत और भविष्य से मन मुक्त होगा, उस समय केवल भूत व भविष्य का साक्षी वर्तमान आत्मा ही शेष रहेगा । मन की द्रष्टा, साक्षी के चिन्तन में स्वाभाविक स्थिति हो जावेगी; क्योंकि मन एक क्षण भी बिना चिन्तन के, फुरने के रह नहीं सकता और अब विचार द्वारा भूत, भविष्य की डाले कट गयी तब बंधे पक्षी की तरह या पंख कटे पक्षी की तरह वहीं का वहीं ही बना रहेगा ।

फिर मन जिस जिस विषय की ओर जावे उस विषय के दूषण विचार कर मन को उस विषय से हटावें । कुसंगी, व्यवहारी, विषयी, गपौड़ी, भेदवादी, शराबी, भंगेड़ी, जुआरी, मांसाहारी, मूढ़, धनी, अहंकारी, तर्की और संसारी पुरुषों के संग का त्याग ही मन को वश में रखने का सरल उपाय है क्योंकि उपरोक्त इन लोगों के संग से जो संस्कार मन में प्रवेश कर जाते हैं वह संस्कार मन रूप होकर बार-बार फुरते हैं ।

अथवा एकान्त में बैठ श्वाँसों में सोऽहम् का अनुभव, ओम का ध्यान, प्राण पर दृष्टि या शास्त्र अभ्यास करें ।

ब्रह्म विचार जहाँ-जहाँ मन की वृत्ति जावे, वहाँ-वहाँ पर ब्रह्म को देखें । जब सब देश, काल और वस्तु ब्रह्म स्वरूप प्रतीत हो, तब मन का आना-जाना ही कहाँ ? मन भी ब्रह्म, उसका सोचना भी ब्रह्म चिन्तन, क्योंकि ब्रह्म ही अणु-अणु है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" तो मन जहाँ भी जाता है, जिस पदार्थ को छूता है, सब ब्रह्मरूप होने से ब्रह्म चिन्तन ही हो रहा है । ऐसे विचार से मन ब्रह्मरूप हो जाता है । जिज्ञासु उपरोक्त जिस उपाय से मन को वश में कर सके वही उपाय द्वारा एकाग्रता रूप आनन्द का अनुभव करे ।

प्रश्न-१० : अन्तःकरण की शुद्धि होने का क्या लक्षण है ?

उत्तर : अन्तःकरण शुद्ध होने की यह पहचान है कि इस लोक से ब्रह्मलोक तक के भोगों की रुचि शेष न रहे और सबको दुःख रूप, विष रूप, बन्धन रूप जान मन से उनकी प्राप्ति का संकल्प भी न उठे ! इस लोक में किसी राजा,धनी, सुन्दर, भूत, प्रेत, परी, गृह, जादू, पिन्न, जन्त्र, मंत्र, तंत्र का भय अथवा इनकी सिद्धि की कामना या इनमें सत्यता की बुद्धि न रहे । किसी सम्बन्धी के प्रति मोह अथवा भय हृदय में रचंक मात्र भी न हो । केवल सात्त्विक कर्म द्वारा जीवन निर्वाह या गृहस्थ पालन चलता रहे । लोक-लजजा, कुल-लजजा और वेद-लजजा का अभाव हो जावे और वर्णाश्रम के समस्त कर्म, धर्म, रीति आदि को अत्यन्त ही कल्पित और निष्फल समझे ! परलोक भय, नरक भय,श्राद्ध, यमदूत, देवदूत, देवी-देवता, भूत-प्रेत, पुर्नजन्म, पितृ सेवा, पिंडदान, वैतरणी आदि भयानक वचन भी भ्रान्ति जन्य और कल्पित प्रतीत होकर उनसे भय एवं सत्यत्व बुद्धि मन से निकल जावे । परलोक में अमृतपान, अपसरा भोग, सुन्दर दिव्य कान्ति, शक्ति तथा भोग की कामना, सुखबुद्धि एवं हृदय से प्रीति निवृत्त हो जावे । समस्त लोक तथा वहाँ के भोग को केवल कल्पना मात्र जाने । जब केवल निज सत स्वरूप को जानने की या मन की उसमें स्थिति करने की मात्र पिपासा हो, तब जाने कि अन्तःकरण शुद्ध होतो आत्म-ज्ञान का वास्तविक अधिकारी हो गया है । जिसका मन सगुणोपासना से पूर्ण हो चुका है एवं अब और करने की इच्छा नहीं होती बल्कि सगुणोपासना से मन उपराम हो चुका है, उस मन को शुद्ध जाने । जब निर्गुण आत्मा को जानने की या मैं कौन हूँ, जगत् क्या है, ब्रह्म क्या है, मुक्ति कैसे होगी, जन्म-मरण के भय से कैसे मुक्त हो सकूँगा तथा अखंड आनन्द किस साधन से अनुभव रूप होगा आदि प्रश्न मन में जाग्रत होते हों उसका मन शुद्ध हो चुका है । जिसके मल, विक्षेप दो आवरण कर्म तथा उपासना द्वारा शान्त हो चुके हों और केवल एक अज्ञान शेष रहा हो ऐसा साधन चतुष्टय सम्पन्न मुमुक्षु ही शुद्ध अन्तःकरण

युक्त माना जाता है ।

प्रश्न-११ : मनुष्य मृत्यु पर्यन्त कष्टों से मुक्त क्यों नहीं हो पाते हैं ?

उत्तर : मनुष्यों का शरीर नाशवान् है, इसलिए इनकी अन्तहीन कामनाएँ कभी भी पूर्ण नहीं हो पाती है, इसीलिए इनका व्यवहार कदाचित् पूर्ण नहीं हो पाने से सदैव क्लेश पाते ही रहते हैं । गृहस्थ का मोह प्रतिदिन अधिक दृढ़ होता जाता है, अतः सद्गुरु का उपदेश हृदय में नहीं ठहरता । फलतः मनुष्य मरण पर्यन्त तिलों की तरह गृहस्थ रूप कोल्हू में व्यवहार रूप बैल द्वारा चूर-चूर होकर जन्म-मरण रूप कष्ट पा रहे हैं । व्यर्थ यत्न, चिन्ता, दीनता और बन्धन से आयु व्यतीत करते हैं । अज्ञानीजन धर्म को छोड़कर धन संग्रह में जीवन काल व्यतीत कर रहे हैं और उन्होंने धन लाभ ही उत्तम लाभ एवं पुरुषार्थ मान रखा है । फिर भी उन्हें धन का यथेष्ट लाभ नहीं हो पाता है एवं जिन्हें हुआ है वह भी उसका उपयोग करना नहीं जानते हैं । मनुष्य केवल संग्रह करने,रक्षा करने, चोरी या नष्ट हो जाने पर या सरकार द्वारा ले जाने की आशंका कर कष्ट ही पाते रहते हैं । वे लोग सत् पुरुषों के समीप जाकर उनके सदुपदेशों को कभी ग्रहण करने की चेष्टा नहीं करते हैं । प्रायः वे प्रतिदिन धन, पुत्र, स्त्री, मित्र, पति, मकान, कार, सजावट, सुन्दरता, प्रतिष्ठा आदि के मोह में बंध कर सत्मार्ग एवं सद्गुरु से विमुख ही बने रहते हैं । वे अपनी वासना से स्वयं बंधकर नाना प्रकार के क्लेश सहते हैं और अपने आपको चतुर, प्रधान, बुद्धिमान और मानधारी भी समझते हैं । वास्तव में वे मूढ़मति, बुद्धिहीन, अज्ञानी, दण्ड देने योग्य और धिक्कार के ही अधिकारी है । इसलिए महात्मा लोग उन जीवों की शोचनीय एवं दुःखमय स्थिति देख उन पर दया करके उपदेश शास्त्र या पत्र द्वारा राहत पहुँचाने की दया करते हैं, किन्तु ये मूढ़मति उनके उपदेश का रंचक मात्र भी आदर नहीं करते, बल्कि कृतघ्न होकर उल्टा उन पर हँसते हैं, उनकी निंदा करते हैं, उनको कष्ट पहुँचाते हैं, उन कर कलंक लगाते हैं तथा उनमें दोष दृष्टि करते हुए अपने दुष्कर्मों का फल भोगते रहते हैं ।

प्रश्न-१२ : किस उपाय से मनुष्य गृहस्थ एवं जगत् के व्यवहार से मुक्त हो सकता है ?

उत्तर : गृहस्थ में उदासीन वृत्ति से बर्ताव करें । जिससे मोह का काँटा पग में न चुभे । जितना समय गृह में बैठे सत्संग की वार्ता करें । एकान्त में बैठ आत्म चिन्तन, शास्त्र अध्ययन करें । गृहस्थ के जंजाल और धंधे बहुत है और मनुष्य की आयु अल्प है । इसलिए बुद्धिमान, वैराग्य और विचार से गृहस्थ में विचरता है । जब तक मनुष्य आप पुरुषार्थ कर धंधे व जिम्मेदारी को थोड़ा न करे तब तक धंधा स्वयं समाप्त नहीं होता न पीछा छोड़ता है, क्योंकि धन्धा जड़ है और गृहस्थ धर्म में फंसे जीव द्वारा संचालित होता है । अतः आनन्द इच्छुक जीव को अपने उद्धार का पुरुषार्थ आप ही करना चाहिये । अपने वास्तविक स्वरूप ज्ञानानन्द को भूलकर व्यर्थ में जड़ तथा कल्पित व्यवहारों के मोह में फंसकर अपना देव दुर्लभ जीवन नष्ट नहीं करना चाहिये । जाग्रत काल में सब समय बुद्धि द्वारा सत-असत् का विवेक करता चले । सत्य को ग्रहण तथा मिथ्या से उदासीन होकर उनका त्याग करने की चेष्टा करे । सत्य-स्वरूप केवल अपना आत्मा है जो सभी जीवों में पूर्ण होकर व्याप्त है । ऐसे अपने सच्चिदानन्द, निर्विकार, निराकार, शुद्ध, अजन्मा ब्रह्म स्वरूप को मन में धारण कर इसी स्वरूप का सर्वदा स्मरण चिन्तन करता रहे, जिससे जगत् के जंजाल से और गृहस्थ रूप अंधकूप से मुक्त हो सके । देह तथा देह का सम्बन्ध नाम, रूप, वर्ण, जाति, आश्रम, सम्बन्ध तथा परिणाम आदि को असत्य रूप समझकर मन से इनका अहंकार न करे । ये सम्बन्ध सब दुःखरूप, मोह में फंसाने वाले, नाशवान, मनको मलिन, चित को चंचल बनाने वाले, कल्पित एवं क्षणिक है ।

स्त्रियों को भी उचित है कि सत्य धर्म में स्थित रहे सावधान होकर अपने समय को शुभ रीति से व्यतीत करें । शांति धैर्य, पतिव्रता, धर्म, सत्यवचन, विनम्रता और दया से अपने गृह में रहकर जीवन को आत्म चिन्तन द्वारा सफल बनावे, किन्तु हठ, कपट, कर्कशी, विषय प्रीति के

मलिन स्वभाव को कभी न अपनावे । वस्त्र, अलंकार, धन प्रीति का त्याग कर, क्रोध, मूढ़ता, आलस्य का त्याग करे । सन्तान को शुभ शिक्षा दे । इस प्रकार सावधान होकर विचरण करें तो मुक्त ही है ।

प्रश्न-१३ : इस जगत् में चारों ओर अशांति, हाहाकार, मारकाट क्यों है और कैसे इससे मुक्त हो सकते हैं ?

उत्तर : इस जगत् में जहाँ देखो वहाँ शब्द का ही कोलाहल है । शब्द के कारण ही चारों ओर घर-घर में जन-जन में अशांति के मेघ छाये हुए हैं एवं भयंकार गर्जना हो रही है । शब्द के लिए ही सब ओर मारकाट मच रही है । शब्द ही मानो सब झगड़े का कारण हैं । शब्द ही हार है, शब्द ही जीत है । शब्द ही जीव है, शब्द ही ईश्वर है, शब्द ही मित्र है, शब्द ही शत्रु है । शब्द ही अज्ञान है, शब्द ही ज्ञान है । शब्द ही गुरु है, शब्द ही चेला है । शब्द ही अपना है, शब्द पराय है । शब्द ही बन्धन है, शब्द ही मुक्ति है । शब्द ही धर्म है, शब्द ही अधर्म है । शब्द ही खण्डन है, शब्द ही मण्डन है । शब्द ही वेद-पुराण, कुरान, गीता, बाइबिल, रामायण है । शब्द ही संयोग है, शब्द ही वियोग है । शब्द ही व्यापार है, शब्द ही व्यवहार है । शब्द ही हाट है, शब्द ही बाट है, शब्द ही घर है, शब्द ही नगर है । शब्द ही जाति है, शब्द ही आश्रम है । शब्द ही रूप है, शब्द ही कुरूप है । शब्द ही नाम है, शब्द ही अनाम है । शब्द ही जन्म है, शब्द ही मृत्यु है । जो कुछ है वह शब्द ही है । शब्द के बिना कुछ नहीं है । तात्पर्य यह कि झगड़ा और प्रपंच सब शब्द मात्र है । शब्द से रहित मौन और सर्वत्र शान्ति ही है । शब्द ही दुःख का कारण है । जैसे शब्द से रहित पहाड़, वृक्ष, धरति होने से उनमें किसी प्रकार का वाद-विवाद, खण्डन-लड़ाई नहीं है । पशुओं में अल्प शब्द है इसलिए कभी-कभी खाने-पीने, मैथुन के कारणों को लेकर अल्पकाल हेतु झगड़ा होता है । बच्चों में भी अल्प शब्द होने के कारण अल्पकाल हेतु झगड़ा होता है । परन्तु मनुष्यों में शब्द ऐसा पूर्ण है कि निरन्तर इनमें वाद-विवाद. खण्डन-मण्डन, राग-द्वेष, घृणा, तकरार मचा

ही रहता है । इसी कारण मनुष्य सृष्टि में अनेक धर्म, अनेक बोली, अनेक सिद्धान्त, अनेक मत, अनेक जाति, अनेक पंथ, अनेक उपासना, अनेक कर्म, अनेक मति तथा अनेक स्वभाव पाये जाते हैं । वास्तव में देखे तो शब्द आकाश का अंश है आकाश शुन्य रूप है यह ज्ञान किसी बिरले ज्ञानी को ही होता है इसलिए जितना भी वाद विवाद हो रहा है वह शुन्य रूप है । परन्तु सारे लोग शब्द के आधीन होकर मेढ़क की तरह व्यर्थ बक-बक टर्र-टर्र करते फिरते हैं । किसी ज्ञानी को ही शब्द को शुन्यरूप जानने के कारण शब्द के बखेड़े से मुक्त देखेंगे । अन्यथा पंडित, साधु, महन्त, मुल्ला, मोलवी, पादरी, कवी, वकील, राजा, चतुर और मुर्ख शब्द के आधीन होकर मरकट की तरह अपनी अपनी मान्यता रूप शब्द पर नाच रहे हैं । बादलों की तरह अज्ञान रूप पवन के झंकोरों से परस्पर सम्मुख होकर गर्ज रहे हैं । अज्ञान ऐसा बलवान है कि पंडित और विद्वान् भी शब्द के पीछे दीवाने हो रहे हैं । सभी मनुष्य शब्द में अपनी महिमा, गौरव, प्रतिष्ठा अपमान निश्चय कर दिन-रात मरते, जीते, दुःखी, सुखी होते रहते हैं एवं असहनीय होने पर आत्म हत्या तक कर लेते हैं । विद्यार्थियों का पास होना तथा फैल होना केवल शब्द मात्र ही तो है, किन्तु फैल होने से प्रति वर्ष कितने ही विद्यार्थी मौत के मुँह में अपने को भेंट कर देते हैं । जो लोग शब्द पर जी रहे हैं वे आयु नष्ट कर रहे हैं, वह पंडित नहीं मूर्ख बालक है । शब्दातीत हो कर कोई ज्ञानी ही जीते हैं ।

अतः जिज्ञासु भिन्न-भिन्न शब्दों का श्रवण कर अपनी वृत्ति को चंचल न करें, किन्तु पर्वत के समान अपने साक्षी स्वरूप को शब्द का प्रकाशक, शब्द का द्रष्टा, शब्द का साक्षी और शब्द का अधिष्ठान जान उसी स्वभाव में मन बुद्धि की स्थिति रखें । मूर्खों के समान अपनी वृत्ति को चंचल, भ्रान्त, दीन और दुःखी न करे । जगत् में शब्द प्रवाह रूप है और देहान्त पर्यन्त ऐसे ही रहेगा । अतः पारदर्शी शब्द से अगोचर होकर शांति से अपने जीवन काल को व्यतीत करे । तत्त्व विचार द्वारा जिज्ञासु को अशब्द

रूप तट पर स्थित हो, फिर उसे शब्द की लीला देख और सुनकर उदासीन पुरुष के समान सदा हर्षित रहना चाहिये ।

मुर्ख लोगों को खाया भोजन हजम नहीं होता, नींद नहीं आती जब तक कि वे दो चार लोगों से बहस न कर ले , दूसरोंको बहस में हरा न दे चैन नहीं आता है । पहलवानों की तरह उनकी मस्तिष्क शक्ति किसी के साथ वाक् युद्ध करने को सदा आतुर ही रहती है । अतः ऐसे शुष्क वाक् वादी से बचें । अपने समय को सद्गुरु के उपदेश में एकाग्र करे, जो सुख, शांन्ति को देने वाला तथा समस्त दुःखों के मूल अज्ञान को हरने वाला है ।

प्रश्न-१४ : विश्व के प्रत्येक पदार्थ में पांच अंश किस प्रकार है तथा आत्मा से किस प्रकार अभिन्न है ?

उत्तर : अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम् ।
आद्यत्रयं ब्रह्म रूपं जगद्रुपं ततो द्वयम् ॥

- सरस्वती रहस्योपः २४

अस्ति, भाति, प्रिय, नाम तथा रूप यह पांचों अंश विश्व के प्रत्येक पदार्थ में है । नाम, रूप कल्पित माया अंश होने से मिथ्या ही है शेष अस्ति, भाति, प्रिय यह तीन अंश सर्वत्र समान होने से सत्य ब्रह्म रूप है, क्योंकि ब्रह्म ही निर्दोष तथा समान रूप से सब में व्याप्त है । जो सर्वत्र अस्ति, भाति, प्रिय रूप से विद्यमान है वही देह में आत्मा सच्चिदानन्द रूप से अनुभव सिद्ध है । जो मैं देह में सत, चित, आनंद रूप से हूँ वही मैं सर्वत्र अस्ति, भाति, प्रिय रूप से हूँ ।

अस्ति कहने से ''है''(सतपना, होनापना) गीता २/१६ में बतलाया है ''न अभावः विद्यते सतः'' सत का कभी अभाव नहीं होता और जो नहीं है उसकी सत्ता नहीं हेती है । अस्तु ''अस्ति'' अर्थात् सत, भाति याने प्रतीति, भासित होना, जानने में आना, दिखलाई पड़ना यह प्रतीति बिना चेतन के जड़ पदार्थ को तो स्वयं होगी ही नहीं । जब भी प्रतीति होगी चेतन

को ही होगी तो भाति कहने से ''चित'' हुआ तथा प्रिय याने आनन्द । आनन्द ही प्रिय होता है दुःख किसी को प्रिय नहीं होता है । मैं तीनों कालों में अपने आपको प्रिय हूँ कभी अप्रिय नहीं होता हूँ अस्तु मैं स्वयं आनन्द स्वरूप होने के कारण से प्रियता मेरे में ही है । चेतनता होने के कारण भी सभानता मेरी है तथा सत होने से अस्ति मेरा ही है । इस प्रकार इस शरीर में मेरा जो सच्चिदानन्द सामान्य ज्ञान स्वरूप है वही सर्वत्र अस्ति, भाति, प्रिय, रूप से विद्यमान है ।

जो अस्ति, भाति, प्रिय रूप से ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है वही मैं देह की अपेक्षा से सच्चिदानन्द सामान्य ज्ञान स्वरूप स्वयं प्रकाश निरुपाधिक अजन्मा, अकर्ता, अभोक्ता, द्रष्टा, साक्षी, कूटस्थ आदि उपाधि से रहित हूँ ।

गुरु द्वारा जो विशेष ज्ञान उदय हुआ है वह भी परिच्छिन्न होने से अनित्य है । क्योंकि सर्वकाल में नहीं रहता । सुषुप्ति में चिदाभास भी अपने कारण रूप अज्ञान में लय हो जाता है, और मैं उस चिदाभास के लय होने को, अज्ञान को एवं चिदाभास के कार्य करने न करने का प्रकाशक असंग होकर सामान्य ज्ञान स्वरूप स्थित हूँ । मैं अकर्ता, अभोक्ता, अजन्मा, अविनाशी, द्रष्टा,साक्षी, यह सब बुद्धिगत विशेष ज्ञान जाग्रत तक ही रहता है, स्वप्न में नहीं रहता है एवं सुषुप्ति में तो यह ज्ञान करने वाला चिदाभास स्वयं ही अपने कारण अज्ञान में लय हो जाता है । इसलिये अल्प देश अल्प काल में रहने के कारण विशेष ज्ञान मिथ्या रूप ही है और मैं सामान्य ज्ञान तीनों काल में रह कर चिदाभास के भाव-अभाव का प्रकाशक सत्य हूँ ।

विशेष ज्ञान की आवश्यकता भी चिदाभास की अज्ञान वृत्ति को निवृत्त करने हेतु गुरु द्वारा कल्पित की गई है । जैसे कि मैं जीव हूँ, ईश्वर को नहीं जानता हूँ, ईश्वर नहीं है, मैं जन्म-मृत्यु वाला, सुखी-दुःखी, कर्ता-भोक्ता, रोगी-निरोगी, स्त्री-पुरुष हूँ आदि यह अज्ञान वृत्ति को दूर करने हेतु ही मैं ब्रह्म, अजन्मा, सच्चिदानन्द, द्रष्टा, साक्षी हूँ यह विशेष ज्ञान का

अवलम्बन लेकर देहाभिमान जन्य अज्ञान वृत्ति को कल्पित जान छोड़ देना चाहिये । अर्थात् जन्म-मृत्यु,कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी, देहवान, पापी-पुण्यात्मा भाव जो अज्ञान के कार्य है और ''मैं जीव हूँ'' ईश्वर को कैसे जान सकता हूँ ? ईश्वर है नहीं, ईश्वर दिखाई नहीं देता ऐसा असत्वापदक तथा अभाना पादक आवरण को गुरु अवान्तर वाक्य एवं महावाक्य उपदेश द्वारा विशेष ज्ञान ग्रहण कर निवृत्ति कर देना चाहिये ।

जैसे कि मैं अजन्मा हूँ, अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, नित्य आनन्द स्वरूप, अविनाशी, द्रष्टा, साक्षी, पाप-पुण्य से रहित अशरीरी हूँ, ब्रह्म हूँ, यह विशेष ज्ञान रूपी औषध सद्गुरु रूपी वैद्य से ग्रहण कर मैं जन्म-मृत्यु धर्मा, कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी, जीव हूँ, इस प्रकार के अज्ञान रूपी रोग से अपने को मुक्त होते देख रोग के निवारण के साथ औषध भी छोड़ देना चाहिये । औषध रोग निवारण हेतु ही होती है । रोग निवृत्ति के बाद अपने स्वस्थ स्वरूप का अनुभव करना ही कर्तव्य है फिर न रोग का चिन्तन, और न औषध ग्रहण कर ने का कोई प्रयोजन रहता है । रोग की अपेक्षा से औषध कर्तव्य रूप हुई थी । अस्तु यह द्रष्टा,साक्षी ब्रह्मरूप विशेष ज्ञान रूपी औषध भी केवल मैं कर्ता-भोक्ता, जन्म-मरण धर्मा जीव हूँ इस अज्ञान निवृत्ति का साधन होने से विशेष ज्ञान को भी कल्पित समझकर छोड़ देना चाहिये एवं अपने सामान्य ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिये ।

जैसे निर्मली का चुर्ण, पानी की गन्दगी को नीचे बैठाकर स्वयं भी बैठा जाता है उसी प्रकार विशेष वृत्ति ज्ञान जो चिदाभास में गुरु द्वारा मैं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ रूप जाग्रत हुआ है, वह अज्ञान रूपी मल की निवृत्ति के साथ स्वयं भी निवृत्त हो जाता है । फिर जो इस अज्ञान तथा उसके निवर्तक विशेष ज्ञान का साक्षी शेष रहता है वह सामान्य ज्ञान स्वरूप स्वयं प्रकाश निरुपाधिक निषप्रपंच स्वरूप सच्चिदानन्दात्मा मैं हूँ एवं वही मैं, अस्ति-भाति प्रिय सर्वत्र हूँ ।

प्रश्न-१५ : क्या द्रष्टा साक्षी भाव सत्य है ?

उत्तर : द्रष्टा, साक्षी नाम भी आत्मा में अज्ञान वृत्ति की निवृत्ति हेतु ही रखे थे, उन्हें भी दृश्य रूप जान छोड़ देना है । याने द्रष्टा तथा साक्षी इस विशेष ज्ञान का प्रकाशक मैं सामान्य ज्ञान-स्वरूप स्वयं प्रकाश ब्रह्म हूँ । क्योंकि यह द्रष्टा, साक्षी, अकर्ता-अभोक्ता विशेष वृत्ति ज्ञान अन्तःकरण में जाग्रत काल में ही चिन्तन करने तक रहता है एवं सांसारिक व्यवहार काल में भूल जाता है । स्वप्न में तो किसी विरले दृढ़ अभ्यासी को ही यह स्मरण रहता है । सुषुप्ति में तो ज्ञानी-अज्ञानी समान भाव वाले हो जाते हैं वहाँ पर किसी को कोई भी विचार उदय नहीं होता है अस्तु यह भाव सर्व देश-में समान न होने से परिच्छिन्न तथा विशेष है । और कल्पित होने से अनित्य ही है अस्तु त्याज्य है । मैं हूँ यह भाव ही सर्व देश, काल में होने से सामान्य एवं सत रूप है ।

जाग्रतादि अवस्था एवं स्थूलादि शरीर पारमार्थिक नहीं है इसलिए इनकी अपेक्षा से रखे तुरीय तथा साक्षी, द्रष्टा, नाम भी सत्य कैसे हो सकते हैं ? जैसे कि एक पुरुष के विभिन्न सम्बन्धी जन उसे भिन्न-भिन्न उपाधि वाला कह कर पुकारते हैं, किन्तु व्यक्ति मर जावे तो उस व्यक्ति की वे समस्त उपाधियाँ स्वतः मिथ्या हो जाती है । उसी प्रकार तुरीय, साक्षी, द्रष्टा आदि नाम भी देह अभिमान निवृत्ति के लिये मिथ्या कल्पित हुए थे वास्तविक नहीं है । दृश्य तथा साक्ष्य की अपेक्षा से ही द्रष्टा तथा साक्षी नाम मेरे शुद्ध सामान्य ज्ञान स्वरूप में कल्पित किये गये थे, किन्तु पूर्ण अद्वैत बोध स्वरूप में दृश्य तथा साक्ष्य ही नहीं है तब किसका द्रष्टा किसका साक्षी ? क्योंकि यह दृश्य साक्ष्य मुझ से भिन्न कोई सत्य पदार्थ तो थे नहीं । अस्तु मैं मात्र सामान्य ज्ञान आनन्द स्वरूप हूँ, सब नाम, रूप का आधार अस्ति, भाति, प्रिय हूँ ।

प्रश्न १६ : अद्वैत ब्रह्मज्ञान के लिये प्रथम किन छह सत्ताओं को

स्वीकारना होता है ?

उत्तर : हे वेदान्त जिज्ञासु आत्मन् ! वेद के अद्वैत सिद्धान्त को जानने के लिये पहले उसके छह मौलिक सिद्धांत जान लेना आवश्यक होता है । वेद अद्वैत होते हुए अज्ञानी जनों की शंकाओं का छेदन करने हेतु प्रथम छह सत्ता को मान लेना पड़ता है । जिनमें एक सत्ता यथार्थ है और पाँच अयथार्थ है । जब उत्तर अद्वैत निकल आता है तब उन पाँचों का बाध हो जाता है जैसे अंक गणित के अन्दर ब्याज के सवालों में मूलधन १०० रूपये कल्पित कर लिया जाता है व उत्तर आने के साथ ही वह १०० की सत्ता स्वतः बाध हो जाती है । वे छह सत्ताएँ निन्म प्रकार की है :-

१. ब्रह्म चैतन्य २. ईश्वर ३.माया ४. जीव ५. माया और उनका सम्बन्ध ६. इन पाँचों अनादि सत्ताओं का आपस में भेद । यह छह सत्ताएँ स्वरूप से अनादि है याने इनकी उत्पत्ति किसी के द्वारा किसी की नहीं हुई जैसे-

१. **ब्रह्म**-इसे कौन उत्पन्न करेगा ? अविद्या, ईश्वर या जीव ? इसमें अविद्या याने माया तो इसी के आश्रित टिकी है । वह भला अपने आधार को कैसे उत्पन्न करेगी ? बेटा अपने बाप का कारण तो हो नहीं सकता । ब्रह्म, अविद्या का अधिष्ठान है । यदि वह अविद्या से उत्पन्न हुआ माने तो अविद्या के पूर्व उसका अभाव मानना पड़ेगा तब अविद्या किसके सहारे रहेगी तथा ब्रह्म को अजन्मा कहना भी व्यर्थ सिद्ध हो जावेगा इसी प्रकार ईश्वर व जीव भी ब्रह्म को उत्पन्न नहीं कर सकते । ईश्वर-जीव की सिद्धि भी शुद्ध चैतन्य ब्रह्म के द्वारा ही हो जाती है ।

२. **अविद्या**-इसकी भी ब्रह्म से उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म अविकारी है, इसलिए उससे तो अविद्या की उत्पत्ति बन नहीं सकती तथा ईश्वर व जीव की भी सामर्थ्य नहीं जो अविद्या को उत्पन्न कर सके बल्कि अविद्या के होने से ही ईश्वर व जीव की प्रतीति होती है । ईश्वर या जीव भी

अविद्या को उत्पन्न नहीं कर सकते, इसलिए अविद्या भी अनादि है ।

३. **ईश्वर**-जगत् सृष्टा की सृष्टि कौन करेगा ? केवल ब्रह्म तो किसी का उत्पादक ही नहीं और न केवल अविद्या ही किसी को उत्पन्न कर पाती है ब्रह्म और अविद्या मिलकर तो ईश्वर व जीव हो जाते हैं, अपने आपसे अपने आपको उत्पन्न तो नहीं किया जा सकता । जीव के द्वारा भी ईश्वर की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जीव तो अन्तःकरण उपाधि के आधीन है । अन्तःकरणादिक की उत्पत्ति भूतों के सत्त्व गुण से है सो वह जड़ है इससे ईश्वर की उत्पत्ति नहीं हो सकती । इसलिए ईश्वर भी अनादि है ।

४. **जीव**-इसे कौन उत्पन्न करेगा ? ईश्वर या अविद्या ? जीव यदि नहीं होगा तो उसके संचित् पुण्य-पाप भी नहीं होंगे तो फिर ईश्वर उसे अकारण जन्म-मुत्यु का दुःख भोगने को क्यों उत्पन्न करेगा ? माया भी जीव को उत्पन्न नहीं कर सकती । यदि जीव पूर्व न हो तो किस हेतु दुःख भोगने जीव को बनावेगी अतः जीव भी अनादि प्रवाह रूप है ।

५. **अविद्या और चैतन्य का सम्बन्ध**-यह सम्बन्ध भी अनादि है, क्योंकि ब्रह्म तथा अविद्या भी अनादि है, उनका तादात्म्य सम्बन्ध भी अनादि है इसलिए उनसे भी सम्बन्ध की उत्पत्ति नहीं हो सकती । अनादि पदार्थों का सम्बन्ध सादी(प्रारम्भ होने वाला) नहीं हो सकता । (जब सम्बन्ध भी अनादि है तो ईश्वर, जीव तथा प्रत्येक का परस्पर भेद तथा इन तीन की सिद्धि(जीव, ईश्वर, ब्रह्म) का आधार इस अविद्या तथा चैतन्य के अनादि सम्बन्ध पर ही निर्भर है) । इसलिए इन तीन से सम्बन्ध की उत्पत्ति कौन करेगा क्योंकि अधिष्ठान भी हो और अध्यस्त भी हो और उनका सम्बन्ध न हो ऐसा नहीं हो सकता । अस्तु अविद्या और चैतन्य सम्बन्ध भी अनादि है । अनादि शुद्ध ब्रह्म मैं अनादि कल्पित माया है उस माया का ब्रह्म चैतन्य के साथ अनादि कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध है याने कल्पित भेद सहित वास्तव अभेद रूप सम्बन्ध है अस्तु यह सम्बन्ध भी अनादि है ।

६. **परस्पर भेद**-उक्त पाँचों अनादि वस्तुओं का भेद भी अनादि मानना होगा अन्यथा पाँचों का भेद नहीं मानेंगे तो पाँचों अभिन्न होंगे । उनकी अभिन्न अवस्था बन नहीं सकती, क्योंकि जड़ चेतन का अभेद कैसा ? यदि उनका अभेद मान भी लिया जावे तो एक अभेद तत्त्व का किसके साथ भेद बताया जा सकेगा ? अनुयोगी तथा प्रतियोगी के बिना नाम के भेद सिद्ध हो जावे यह नितांत असम्भव बात है ।

अतः ब्रह्म, ईश्वर, जीव, अविद्या, चैतन्य तथा अविद्या का सम्बन्ध तथा इनका परस्पर भेद इन छह पदार्थों में ब्रह्म तो अनादि अनन्त है, क्योंकि उसका तीनों कालों(सृष्टि से पूर्व, सृष्टि काल में तथा सृष्टि लय काल) में भी अभाव नहीं होता । ब्रह्म को छोड़ अविद्या आदि पदार्थ अनन्त नहीं है याने अनादि तो हैं किन्तु ब्रह्म की तरह अनन्त नहीं है । उनका ज्ञान से बाध हो जाता है इसलिए ये पांचों सांत(अन्त सहित) है । ऐसे अनादि याने जिसका कभी प्रथम सृष्टि काल नहीं कहा जा सकता, जो सदा से है, वह अनादि प्रवाह रूप हैं और अनन्त भी है याने जिसका कभी अभाव नहीं होने वाला है । केवल एक अखंड अद्वैत सत्ता ही अपने आप में नाना रूप होकर स्थित है । जैसे एक ही स्वर्ण अपनी महिमा में नाना अलंकारों के रूपों में विद्यमान है । अज्ञानी भले स्वर्ण में नामत्व की या द्वैत की कल्पता करे किन्तु तत्त्व दृष्टि से स्वर्ण में चैन, चूड़ी, टाप्स, कांटा, हार जैसी कुछ द्वैत की सत्ता है ही नहीं ।

हे आनन्द सिन्धु ! जैसे एक मूर्तिकार एक चट्टान को देख, एक बढ़ई एक स्तम्भ अथवा एक मूर्तिकार एक शिला को देख उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की मूर्ति खिड़की, दरवाजा, कुर्सी, मेज, टेबलादि की कल्पना करता है और तदानुसार उन्हें काट-छाट कर रंग पालिशादि द्वारा नामकरण करता है । अज्ञानी लोग इन्हीं मूर्तियों को राम, कृष्ण, हनुमान, देवी आदि करके जानते भी है; किन्तु स्तम्भ एवं पाषाण शिला की दृष्टि से कुछ द्वैत नहीं हुआ वह तो सर्वत्र अद्वैत रूप से अपने को ही देखते हैं । उनमें हाथ, पैर, धनुष,

मुरली, वस्त्र, जेवर या कुर्सी, टेबल आदि कुछ भी नहीं हैं । हे बोध स्वरूप आत्मन् ! इसी प्रकार अज्ञानी भले मुझ अखंड़ अद्वैत सत्ता में राम, कृष्ण आदि अवतार तथा पशु, पक्षी, कीट, पतंग, स्थावर, देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण व उनके धर्म जन्म-मरण, सुख-दुःख की कल्पना करे किन्तु मैं शुद्ध ब्रह्म चैतन्य पाषाण शिलावत अथवा स्तमभवत ज्यों का त्यों अपनी महिमा में स्थित हूँ मेरी दृष्टि में कुछ द्वैत हुआ ही नहीं ।

देखिये एक कपड़े के थान को गृहस्थी खरीद लाता है और घर वालों की आवश्यकतानुसार टेबलक्लाथ, चादर, तकिया, गिलाफ, पेटीकोट, ब्लाउज, शर्ट, पजामा, शमीज, कमीज, टोपी, थैली, कुर्ता, फ्राक, रुमाल, पर्दे और अन्यान्य उपयोगी रूप बना उनका नाम देता हैं किन्तु कपड़े की दृष्टि से कुछ द्वैत हुआ ही नहीं है । जेवर को सब देखते है किन्तु स्वर्ण पर विचार कोई नहीं करता है । कपड़ों पर सब विचार करते हैं किन्तु सूत पर कोई दृष्टि नहीं करता । सिनेमा सब देखते हैं किन्तु प्रकाश को कोई नहीं देखता । दर्पण में सब देखते हैं किन्तु दर्पण को कोई नहीं देखता है । शरीर या जगत् को सब देखते हैं किन्तु ब्रह्म को कोई नहीं देखता है । यदि स्वर्ण, सूत,प्रकाश और ब्रह्म पर दृष्टि पड़ जावे तो फिर अलंकार, कपड़े, सिनेमा व जगत् की सत्ता उसकी दृष्टि से पूर्ण शान्त ही हो जावेगी ।

हे साक्षी स्वरूप आत्मन् ! कैसा आश्चर्य है कि यह मूर्ख मन भ्रान्त होकर किस प्रकार ब्रह्म होते हुए भी अपने में जीव पने का आरोप कर नाना कामना पिशाच की तरह मस्जिद, मन्दिर, गिरजाघर, दर्गा, स्मशान, नदी, पहाड़,वृक्ष, पशु, सूर्य, पृथ्वी आदि नाना प्रकार से देवी देवता मानकर उनकी शरण में हो बहुरूपी स्वाँग रचाकर धक्के खाता फिर रहा है । किन्तु मैं पूर्णानंद स्वरूप ब्रह्म हूँ ऐसा नहीं ज्ञान पाता है । जीव निज अहंकार तथा अज्ञानवश, सद्गुरु की शरण के अभाव में भेदवादी संतों के शरणापन्न होने के कारण, बुद्धि की मंदता के कारण ही कष्ट उठा रहा है । ''मैं ब्रह्म हूँ'' इतने से यथार्थ निश्चय के अलावा और जितने भी ब्रह्म प्राप्ति के साधन या ईश्वर

दर्शन के साधन है, सब बन्धन रूप है । उनसे मृत्यु के क्षण तक द्वैत भ्रम, मृत्यु भय, नही छूटता संशय शांत नहीं हो पाते । अतः अपने समीप स्थित किसी तत्त्वदर्शी संत के ज्ञान दीपक द्वारा अपने बुद्धिरूपी बुझे दीपक को आलोकित करें ।

प्रश्न-१७ : स्वामीजी सत्यात्मा में तीन अवस्था किस प्रकार कही गई है तथा अन्वय एवं व्यतिरेकता किस प्रकार है ?

उत्तर : हे जिज्ञासु ! आत्मा तो अद्वैत है तथा निर्विकार है उसमें अवस्था की कल्पना ही अज्ञान है वैसे अज्ञानी को बोध कराने हेतु तथा निज स्वरूप की स्मृति कराने हेतु (१)सामान्य (२) विशेष (३) कल्पित विशेष इस प्रकार तीन अवस्थाएँ कल्पित की गई है ।

१. सामान्य रूप-वह है जो तीनों कालों में समान रूप से स्थित रहे जो भ्रांति के पूर्व, भ्रांति काल में तथा भ्रांति की निवृत्ति काल में भी बना रहे वही वस्तु का अपना असली सामान्य एवं सत्य स्वरूप है ।

२. विशेष रूप-वह है जिसकी प्रतीति भ्रांति काल में नहीं होती किन्तु जिसकी प्रतीति से भ्रांति निवृत्त हो जाती है जो भ्रांति का अधिष्ठान होता है, जो सीमित काल में प्रतीत होता है किन्तु सब काल में प्रतीत नहीं होता इसलिये मिथ्या होता है ।

३. कल्पित विशेष रूप-वह है जो अधिष्ठान के अज्ञान काल में तो प्रतीत होता है किन्तु अधिष्ठान के ज्ञान काल में प्रतीत नहीं होता और अधिष्ठान में जिसका तीनों कालों में प्रवेश नहीं होता । अर्थात् जिसका तीनों कालों में अभाव रहता है उसे असत् भी कहते हैं ।

आधारः-उसे कहते है जो अधिष्ठान काल मैं भी रहता है तथा भ्रांति काल में भी 'है' रूप में रहता है ।

अधिष्ठान-उसे कहते हैं जो केवल भ्रांति के अभाव अवस्था में ही

प्रतीत होता है किन्तु भ्रांति काल में प्रतित नहीं होता ।

अध्यस्त-जो आधार अथवा अधिष्ठान में तीनों कालों में अभाव रूप रहता है ।

आधार	**अधिष्ठान**	**अध्यस्त**
१.सामान्य	**२.विशेष**	**३.कल्पित विशेष**
सत	**मिथ्या**	**असत**

उपरोक्त नक्शे से ज्ञात हो जाता है कि जो सामान्य रूप है, वह सत होता है तथा आधार भी कहलाता है । जो विशेष रूप है वह मिथ्या होता है तथा भ्रान्ति का अधिष्ठान होता है तथा जो कल्पित विशेष है वह असत् होने से अध्यस्त मात्र है ।

उदाहरण के रूप में सीप अधिष्ठान के अज्ञान काल में देखने वाले को उसमें कागज, पन्नी, भोडल, चाँदी आदि की भ्रांति होती है । अधिष्ठान सीपी के विशेष रूप के न जानने के कारण भोडल, रजतादि की प्रतीतियाँ सीपी में कल्पित विशेष अवस्था मानी गई है । कल्पित विशेष अवस्था असत होती है, क्योंकि भोडल, रजतादि का सीप में तीनों कालों में पूर्ण अभाव है । इसलिए वे पदार्थ सीप में असत् रूप सिद्ध हुए । तथा जब अधिष्ठान सीप ज्ञान से भ्रांति की निवृत्ति हो जाती है तब यह रजतादि प्रतीत नहीं होते हैं ।

अब 'यह सीप है' ऐसा अधिष्ठान का ज्ञान विशेष रूप या विशेष अवस्था पदार्थ की कही गई है । और सामान्य सत अंश 'है' पर आधारित सीपी के यह विशेष रूप को मिथ्या कहा जाता है क्योंकि जो अल्प काल, अल्प देश में प्रकट रहता है (बहुत देश, बहुत काल में नहीं प्रतीत होता) वह मिथ्या रूप होता है । सूर्य की तेज पड़ती हुई किरणों के कारण दूर से असम्यक ज्ञानी को चाँदी या अन्य रूपा की प्रतीति होती है किन्तु प्रातः या संध्या को नहीं होती इसलिए यह मिथ्या वस्तु है । यदि सत्य वस्तु होती तो

तीनों काल में समान भाव रूप होती ।

सीप अधिष्ठान का आधार रूप यह 'है' सीप का सामान्य अंश है और सत्य भी है । क्योंकि भ्रांति के पूर्व यह कुछ है रूप में प्रतीत होता है तथा भ्रांति काल में 'यह चाँदी है' यहाँ भी ''यह है'' रूप से प्रतीति होती हैं तथा भ्रांति की निवृत्ति काल में भी यह सीप है कहने में ''यह है'' रूप से प्रतीति होती है इस प्रकार ''यह है'' अंश तीनों अवस्था में ज्यों का त्यों बना रहने से वह सामान्य सत रूप है । भ्रान्ति के पूर्व ''यह है'', भ्रांति काल में ''यह है'' तथा भ्रांति की निवृत्ति पर भी ''यह है'' तो बना ही रहता है । अस्तु ''यह है'' सीप का सामान्य सत रूप एवं आधार है । क्योंकि भ्रांति का आधार ''यह कुछ है'' जब तक देखने वाले के मन में स्थान न पाले तब तक यह चाँदी है, अभ्रक है या कागज है यह प्रतीति ही नहीं हो सकती, यह भाव ही उदय नहीं हो सकता । अतः ''यह है'' अंश समान भाव रूप होने से सत रूप है । क्योंकि जो अधिक काल में प्रतीत होता है, वह सामान्य होता है याने ''यह है'' यह सीप का सामान्य रूप ही ''यह चाँदी है'' इस भ्रांति काल में भी प्रतीत होता है तथा 'यह' सीप है इस अधिष्ठान ज्ञान काल में भी प्रतीत होता है ।

अतः सीपी में चाँदी, भोडल अथवा कागज यह सीपी, के अज्ञान से कल्पित भासते हैं इन तीनों भ्रांति रूप पदार्थों का आपस में तथा सीपी के साथ व्यतिरेक है और सीपी के सामान्य अंश ''यह है'' का अन्वय है ।

जैसे कि सीप के स्थान पर जब चाँदी प्रतीत होती है उस काल में कागज अथवा अभ्रकादि प्रतीत नहीं होता और जब कागज प्रतीत होता है, तब चाँदी अभ्रकादि प्रतीत नहीं होता और जब अभ्रक प्रतीत होता है उस काल में चाँदी या कागजादि प्रतीत नहीं होता । यह परस्पर वस्तुओं का व्यभिचार ही व्यतिरेकता कहलाती है । सीप में तीनों अवस्था में इन तीनों भ्रान्त वस्तुओं का पूर्ण अभाव है ।

और ''यह चाँदी है'' ''यह भोडल है'' ''यह कागज है'' इस प्रकार तीन भ्रांति पदार्थ ज्ञान काल में भी ''यह है'' यह सीपी का सामान्य अंश का अन्वय है । इसलिए ''यह है'' सब अवस्थाओं में समान रूप से विद्यमान होने से अन्वय कहलाता है ।

इसी प्रकार अधिष्ठान आत्मा में जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्था आत्मा के अज्ञान से भ्रांति काल में प्रतीत होती है । इसमें इन तीनों अवस्थाओं का परस्पर तथा आत्मा के साथ व्यतिरेकता है तथा आत्मा का तीनों अवस्थाओं में समान रूप होने से अन्वयता है ।

जैसे कि जाग्रत प्रतीत होता है तब स्वप्न और सुषुप्ति प्रतीत नहीं होती और जब स्वप्न होता है, तब जाग्रत तथा सुषुप्ति नहीं होती और जब सुषुप्ति होती है तब जाग्रत तथा स्वप्न नहीं होता है । इस प्रकार यह इन तीनों अवस्थाओं की परस्पर व्यतिरेकता है और आत्मा अधिष्ठान में भी इन तीनों का पूर्ण अभाव है । याने व्यतिरेकता है । और आत्मा इन तीनों अवस्थाओं के रूप में प्रकाशित होता है यह आत्मा का इन तीनों अवस्थाओं में अन्वयता है ।

अविद्या उपाधि द्वारा आत्मा में भी तीन अंश सीप की तरह कल्पित किये गये है ।(१) सामान्य (२) विशेष (३) कल्पित विशेष ।

१. सत रूप सामान्य अंश है जिसे बाहर के पदार्थों में ''है'' रूप तथा शरीर में 'मैं हूँ' रूप में जानते हैं । क्योंकि ''जाग्रत है'' स्वप्न है, ''सुषुप्ति है'' ऐसा कहा जाता है अथवा मैं जाग्रत हूँ, मैं स्वप्न देख रहा था, मैं सुषुप्ति में था इस प्रकार मैं याने आत्मा का इन तीनों भ्रांति काल की अवस्थाओं में भी सद्भाव विद्यमान रहता है । और भ्रांति की निवृत्ति काल में भी ''मैं सत हूँ'' ''मैं चित हूँ'' ''मैं आनन्द हूँ'' ''मैं परिपूर्ण हूँ'' ''मैं असंग हूँ'' ''मैं अविनाशी हूँ'' इस प्रकार मैं रूप आत्मा के सत्यत्त्व की प्रतीति होती है यह सतरूप मैं, आत्मा समस्त भ्रांति का आधार भी है तथा

सामान्य अंश भी है ।

चेतन, असंग, अखंड, अविनाशी, द्रष्टा, साक्षी, अजन्मा, अकर्ता, अभोक्ता आदि अधिष्ठान आत्मा के विशेषण है जो गुरु द्वारा विशेष ज्ञान प्राप्त होने से पूर्व प्रतीत नहीं होते थे किन्तु गुरु ज्ञान द्वारा बाद में चिन्तन काल में ही प्रतीत होते हैं । इसलिए न्यून काल, न्यून देश में प्रतीत होने से यह द्रष्टा, साक्षी, भाव रूप विशेष अंश है । जो भ्रांतिं का अधिष्ठान भी है, भ्रांति काल में इस विशेष अंश की प्रतीति नहीं होती किन्तु इसकी प्रतीति से भ्रांति की निवृत्ति होती हैं ।

मैं आत्मा, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा तथा समाधि में होने से अन्वयी कहलाता हूँ, और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, ध्यान, समाधि आदि अवस्थाएँ ''मैं'' में कल्पित विशेष अंश है एवं व्यतिरेकी भी है । क्योंकि ब्रह्म रूप आत्मा के अज्ञान में ही यह सब प्रतीत होते हैं किन्तु ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार के विशेष ज्ञान काल में इन तीन अवस्था की प्रतीति नहीं होती इसलिए ये तीनों कल्पित विशेष अंश है और अध्यस्त होने से असत् भी है ।

जीवके रोगग्रस्त दुःखी, कर्ता-भोक्ता, जन्म-मृत्यु, रूप, देहभाव की निवृत्ति हेतु सद्गुरु रूपी वैद्यने मैं अकर्ता, अभोक्ता, अजन्मा, अविनाशी, अशरीरी इस विशेष अंश रूप औषध का सेवन बतलाया । भ्रांति रूप रोग के निवृत्त होने के साथ ही यह विशेष अंश रूप औषध भी त्याज रूप हो जाती है । मुख्य तो 'मैं' सामान्य ज्ञान स्वरूप स्वस्थता ही है । जिसने अज्ञान का प्रकाश कर गुरु के निकट पहुँचाया तथा गुरु द्वारा उपदिष्ट विशेष ज्ञान को ग्रहण करने, समझने की सामर्थता प्रदान की है । अतः मैं सामान्य ज्ञान स्वरूप, स्वयं प्रकाश आत्मा हूँ यही प्रयोजन है । तीन अवस्था, तीन शरीर, पंचकोश आदि अवस्थाएँ कल्पना है ।

प्रश्न-१८ : संत के वियोग में दुःख क्यों होता है ?

उत्तर : हे अमृत स्वरूप आनन्दघन आत्मन ! गुरु के चरणों में अनुराग हो जावे तो वे उस मुमुक्षु को मुक्ति का अनुभव निज आत्मा में ही करा देते हैं । किन्तु वही अनुराग जब जीव का अपने देह तथा देह के सम्बन्धी जनों के प्रति हो जाता हैं तो वह भुक्ति अर्थात् जन्म-मृत्यु, रूप-दुःख को प्राप्त हो जाता है । कारण स्पष्ट है कि जिसके पास जो वस्तु, साधन, क्रिया, ज्ञान है वह वही दूसरों कोदें सकता है या बतला सकता है । किन्तु आज पारमार्थिक जगत् में भी जिज्ञासुजन गुरु द्वारा श्रवण से प्राप्त स्वरूप ज्ञान तक तो नहीं पहुँचते हैं बल्कि उनके देह तक ही पहुँचकर रुक जाते हैं, अटक जाते हैं, देह में ही ममता कर मुक्ति पथ से भ्रष्ट हो स्वर्गादि सुख के ही अधिकारी हो रह जाते हैं ।

ध्यान रहे-गुरु ने तो राम, कृष्ण, महावीर, जीसू आदि अवतारों तक का नाम, रूप की दृष्टि से मिथ्या निश्चय करा मुमुक्षु को अपने सार भूत आत्मा को ही अन्वय व्यतिरेक युक्ति से दृढ़ कराया कि हे आत्मन ! तू ही सत्+चित्+आनन्दात्मा है तेरे अलावा समस्त नाम, रूप, जगत्, असत्, जड़ तथा दुःख रूप है । तब बतलाओ क्या गुरु का शरीर या तुम्हारा देह, परिवार सत्य हो सकता है ? जगत् में तुम्हारी देह सहित समस्त प्रतीति स्वप्न पदार्थवत् मिथ्या ही जानना चाहिये । गुरु ने तो हमें आत्मा में ही ब्रह्म भाव रखने का पाठ पढ़ाया है न कि गुरु ने अपने देह में ब्रह्म भाव रखना बतलाया है । हाँ यह सत्य है कि गुरु देह में भी मैं ही विद्यमान हूँ किन्तु अपने घर की वस्तु में श्रद्धा न कर दुरस्त में श्रद्धा करना दुःख का ही हेतु है ! गुरु ने बाहर जाने का, बाहर भटकने का मार्ग नहीं बतलाया बल्कि समस्त बाहर की भटकन छोड़ एकमात्र निजान्तर आत्मा में ही ''अयं आत्मा ब्रह्म'' मैं आत्मा ही ब्रह्म हूँ की धारणा करने का उपदेश किया है ।

गुरु का स्वरूप ज्ञान है न कि देह है । किसी की भी देह उपासना से मोक्ष नहीं होता, मोक्ष ज्ञान से ही होता है । वह ज्ञान अवश्य देह के द्वारा ही प्राप्त होता है । क्या गुरु के दर्शन या प्राप्ति का फल गुरु के चित्र को पूजना या

उनके देह का सर्वदा ध्यान करना है ? नहीं उससे क्या होगा ? वे आये हैं चले भी जायेंगे । जन्म लिया है, मृत्यु को भी पा जावेगे । उनका चित्र भी अग्नि, दीमक, चूहे, पानी द्वारा या कालान्तर पाकर स्वयं ही गल जावेगा नष्ट हो जायेगा । किन्तु जिस चेतना द्वारा चित्र अपने ही हृदय सिंहासन पर रखा या देखा है वह द्रष्टा आत्मा अपने ही अन्दर खोजो कि वह कौन है, जो इस मूर्ति, चित्रको बाहर या भीतर देख रहा है ? तब पता लगेगा कि वह और मैं दो नहीं एक ही द्रष्टा, साक्षी है । जिसे आज तक बाहर ढूंढ़ने का पागलपन बना रखा था एवं घर, परिवार तथा कर्तव्य कर्म छोड़ देह, इन्द्रिय, प्राण तथा मन को सताने में लगा था अब गुरु कृपा से मालूम हुआ कि वह मैं ही हूँ । बस ऐसा बोध होते ही समस्त शोक, मोह, भ्रम तथा दुःखों से मुक्ति मिल जावेगी । तब अपने द्वारा अपनी ही खोज पर बहुत हँसी आवेगी एवं मूर्खता पर रोना भी आयेगा कि जो मैं कभी खोया ही नहीं था उसी की खोज के लिये अनादि से आजतक निरन्तर यात्रा चल रही थी, यह मेरी कैसी मूढ़ता थी ।

हे आत्मन ! इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गुरु के समागम से आत्म स्वरूप का निश्चय हुआ । उनके मिलन के पूर्व सदा बाह्य जगत् में ही सत्य बुद्धि सुख बुद्धि कर मन फंसा रहता था । किन्तु जब से उनकी अमृत वाणी का श्रवण हुआ तब से मन सब ओर से हट अपने ही सत स्वरूप चिन्तन में बिना चेष्टा के रमण करता रहता है । क्योंकि उनकी अद्भुत वाणी के श्रवण, मनन से हृदय में स्थित अनादि अज्ञान अन्धकार बाहर निकल जाता है । जिसके परिणाम स्वरूप बिना प्रयत्न, बिना, कष्ट बिना एकान्त में बैठे हर अवस्था में सहज आत्माकार वृत्ति बनती रहती है । किन्तु उनके वियोग काल में वृत्ति को आत्माकार करने हेतु एकांत में बैठना पड़ता है एवं मन को स्थिर करने हेतु बहुत चेष्टा करना पड़ती है । फिर भी मन पुनः पुनः बाह्य विषयों की ओर फुरने लगता है । गुरुदेव की उपस्थिति में जो साधन सहज था वही उनके जाने के बाद जटिल हो जाता है । अस्तु उनके समागम

होने का यह फल तो अवश्य है कि तन, मन को सेवा सत्संग का लाभ मिलने से मन को अन्दर आने का सहज ही में द्वार मिल जाता है ।

हे प्रियात्मन ! गुरु से प्रेरणा मिलती है, सत्य का बोध होता है, यह तो ठीक है, किन्तु उनके चले जाने के बाद उनके शरीर के वियोग में रोना या दुःखी होना ज्ञान नहीं, मोह है । उनकी प्रेरणा से शांति मिलती थी तो हम उसी का अभ्यास अधिक करने की चेष्टा करें न कि उनकी देह का वियोग पाकर दुःखी होते रहे । संत दर्शन का लाभ इतना है कि जैसे दर्पण में देख अपना विम्ब रूप शरीर ठीक करले उसी प्रकार अपने आत्मा को यथार्थ देख ले और निश्चिन्त हो जायें ।

प्रश्न-१९ :ज्ञान हो जाने के बाद कर्मों के होते रहने पर शुभाशुभ फल प्राप्त होता है या नहीं ?

उत्तर : ''ना भुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि''

अज्ञानी मनुष्य के द्वारा कर्तृत्व बुद्धि से जो भी शुभ-अशुभ कर्म होते हैं उनका वर्तमान अथवा कालान्तर या जन्मान्तर के बाद भी फल भोग होकर ही वे कर्म क्षय होते हैं । अज्ञानी का कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता किन्तु यह बात आत्म ज्ञानी के लिए नहीं कही जा सकती । आत्मज्ञानी के द्वारा ज्ञान से पूर्व या ज्ञान के पश्चात् प्रारब्धानुसार जो भी कर्म हो चुके हैं या जो कार्य होते हैं उनके प्रति ज्ञानी साक्षी मात्र रहता है । ज्ञानी को कर्मों में कर्तापन का अभिमान नहीं होने से उसे भोक्तृत्व भी नहीं रहता है । ज्ञानी समस्त देह, इन्द्रिय, प्राण व अन्तःकरण के कार्य से अपने को असंग, द्रष्टा, साक्षी ही जानता है । इसलिए ज्ञानी को किसी भी कर्म का लेप नहीं होता । कौषितको उपनिषद् में कहा है कि पाप कर्म करने पर भी ज्ञानी के मुख की कान्ति तेज रूप ही बनी रहती है किन्तु अज्ञानी की तरह कान्ति फीकी या उसका मुख मलिन नहीं होता । क्योंकि अज्ञानी कर्म, कर्ता तथा फल को भिन्न-भिन्न जान कर सुखी-दुःखी बना रहता है । लेकिन ज्ञानी कर्मों को होते

हुए एवं भोगते हुए भी देह, इन्द्रिय, प्राण तथा मन को ही कर्ता-भोक्ता जानता है और अपने को देह के सुख-दुःख से परे द्रष्टा, साक्षी ही जानता रहता है । ज्ञानी कर्म, कर्ता तथा फल को अपने से भिन्न ही मानता है इसलिए उसे कर्म बन्धन रूप नहीं है । वह अपने को स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर का साक्षी भूत जानता है कि जिन देह, इन्द्रिय, प्राण तथा मन बुद्धि वृत्ति द्वारा कर्म होते हैं ''मैं'' उन्हें देखने वाला द्रष्टा आत्मा हूँ । जैसे ही जीव को यह साक्षी पने का निश्चय हुआ तैसे ही उसके समस्त कर्म निर्बीज हो जाते हैं । जिज्ञासु को जब सद्गुरु देव के प्रसाद से यह निश्चय हो जाता है कि वासना रूप लिंग देह मैं नहीं हूँ तब ज्ञान से पूर्व घटित हुए कर्म निराधार, शक्तिहीन, नपुंसक हो जाते हैं और उन संचित् कर्मो का फल भोग दायित्व भी जीव पर नहीं आता है । जब यह निश्चय हो जाता है कि मैं कर्मों का कर्ता नहीं हूँ । तो फिर उसके क्रियमाण कर्म भी नहीं बनते हैं । जब कर्मों का कर्तृत्व ही उसमें नहीं रहा तब फिर उनके फलों का भोक्तृत्व भी क्यों कर आवेगा ? अर्थात् वह जीवन्मुक्त हो रहेगा ।

अतएव कल्याण की इच्छा करने वाले मुमुक्षु को अविवेक से उत्पन्न होने वाले हृदयस्थ संशय को ज्ञान रूपी ख‘ से छेदन कर निष्काम कर्म करने में प्रवृत्त हो चाहिये । आत्मज्ञान हो जाने पर कृत कर्मों से अथवा क्रियमाण कर्मों से तुम्हारा कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सम्बन्ध बिलकुल नहीं रहेगा ।

ज्ञानी अज्ञानी प्रारब्ध कर्म भोगने में समान ही है । अन्तर यह है कि अज्ञानी तो प्रारब्ध कर्म भोगने के समय भी कर्तृत्व अभिमान होने से नूतन कर्म के बीज रच लेता है जो पुनः संचित् में जाकर प्रारब्ध का निर्माण कर पुर्न जन्म दिलाते हैं । लेकिन ज्ञानी तो प्रारंब्ध कर्म फलों को भोगते समय भी उनमें भोक्तृत्व अभिमान तथा नूतन कर्मों में कर्तृत्व के अभिमान से रहित असंग, उदासिन, द्रष्टा, साक्षी ही बना रहता है । जैसे कमल को जल का स्पर्श नहीं हो पाता है उसी प्रकार आत्म ज्ञानी को किसी भी प्रकार के शुभ व

अशुभ कर्मों का फल स्पर्श नहीं कर पाता है । यदि प्रारब्धवश वह समस्त जगत् का भोग करे या हनन करे तो भी उसके द्वारा उसकी अपनी अद्वैत निश्चय वृत्ति से उसने कुछ भी नहीं किया ऐसा ही माना जावेगा । जल में तरंग, बुदबुद, फेन, भाप, बादल, बर्फ, ओस, कोहरा क्या कुछ जल में उत्पन्न हुआ है ? यह सब होने से क्या जल विकारी हुआ ? नहीं उसी प्रकार एक ब्रह्म रूप ज्ञानी की दृष्टि में कुछ अपने से भिन्न निश्चय न होने से अपनी ही लीला भासित होती है, इसलिए उसे पुण्य-पाप का स्पर्श नहीं होता ।

प्रश्न-१९ : प्रारब्ध कर्म का फल वर्तमान में मिलता है इस कथन से पुर्नजन्म सिद्ध होता है या नहीं ?

उत्तर : शास्त्रों में प्रारब्ध और पुरुषार्थ का भेद निरूपण करने के लिए पूर्व जन्मों का निर्णय है । ये दोनों शब्द प्रारब्ध और पूर्व जन्म अज्ञानी के निश्चय में है । इसलिए उसके निश्चय को लेकर प्रारब्ध और पूर्व जन्म का अभेद सिद्ध किया गया है । जब मेहनत के बिना कुछ प्राप्त नहीं होता तो पूर्व जन्म(प्रारब्ध) केवल नाम मात्र है । अज्ञानी को दुःख के समय किसी प्रकार से धैर्य नहीं आता । जब उससे कहा जाता है कि तुम्हारा प्रारब्ध अर्थात् पूर्व कर्म ऐसे थे, जिसका यह परिणाम तुम्हे प्राप्त हुआ है । इसे चाहे धैर्य से काटो या रोकर काटो । किये कर्म का फल अवश्य सबको भोगना पड़ता है । तब वह ऐसा कथन सुन मौन हो जाता है और धैर्य धारण करता है । इसलिए पूर्व कर्म अथवा प्रारब्ध आचार्यों ने केवल धैर्य के लिए प्रचलित किए है, वास्तव में पुरुषार्थ अर्थात् वर्तमान को छोड़ भूत व भविष्य कुछ नहीं है । आज तक किसी ने न भूत काल देखा न भविष्य काल सब वर्तमान में ही जन्म लेते हैं, वर्तमान में ही स्थित रह कर वर्तमान में ही देह त्याग कर जाते हैं ।

विचार कर देखे तो पूर्व जन्म से प्रयोजन पूर्व आयु का है, भाव यह है कि पूर्व आयु का पुरुषार्थ वर्तमान में फल देता है । बाल अवस्था का पढ़ा हुआ युवा और वृद्ध अवस्था में फल देता है । युवा अवस्था का कमाया वृद्ध

अवस्था में काम देता है । पूर्व मास का कृत कर्म दूसरे मास की पहली तारीख को फल देता है । वर्ष भर पढ़ा हुआ दूसरे वर्ष के प्रारभ में उत्तीर्ण रूप फल देता है । पूर्व ऋतु का बोया हुआ बीज वर्तमान में काटने को मिलता है तैसे ही सब पूर्व कृत कर्म वर्तमान में लाभ दे रहे हैं और वर्तमान में किए कर्म भविष्य में लाभ देगें । इसको भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्य काल भी कहते हैं या पूर्व जन्म, वर्तमान जन्म और भविष्य जन्म भी कह सकते हैं और कोई जन्म जैसी वस्तु भिन्न नहीं है । बीते कल का कर्म आज लाभ देता है और आज की मेहनत आने वाले कल में फलदायक होती है यही तीन जन्म रूप है ।

शास्त्रों में जो संचित्, प्रारब्ध, और आगामि कर्मों का निर्णय है वह उनको केवल मिथ्या सिद्ध करने के लिए है, सत्यरूप सिद्ध करने के लिए नहीं यदि कर्म सत्य होते तो ज्ञान से कभी भी नष्ट नहीं होते बल्कि कर्म से ही होते, किंतु शास्त्रों में ज्ञान अग्नि द्वारा समस्त कर्म को भस्म करने की सामर्थ्य बतायी है । इससे सिद्ध होता है कि कर्म सत्य रूप नहीं है । जो वस्तु ज्ञान से नष्ट होती है वह वस्तु मिथ्या होती है । सत्य वस्तु ज्ञान अज्ञान किसी से भी नष्ट नहीं होती । जो वस्तु अज्ञान से प्रतीत होती हो और ज्ञान से नष्ट होती हो वह वस्तु मिथ्या है । जैसे रज्जू में सर्प की भ्रांति अज्ञान से है और रस्सी के ज्ञान से निवृत्त हो जाती है । इसलिए सर्प वस्तु मिथ्या है । कर्म तो अज्ञान में प्रतीत होते हैं और ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं इसलिए कर्म मिथ्या है । आत्मा में जो कर्म प्रतीत होते हैं वे आत्मा के अज्ञान से होते हैं जब आत्मा का ज्ञान हो जाता है तब कर्म भी नष्ट हो जाते हैं रज्जु सर्प वत् । यदि कर्म सत्य होते तो आत्मा को जानने से भी नष्ट नहीं होते पर नष्ट हो जाते हैं ऐसागीता शास्त्र प्रमाण है इसलिए कर्म मिथ्या है । मिथ्या सर्प जैसे रज्जु को विकारी नहीं कर सकता उसी प्रकार मिथ्या कर्म अत्मा को जन्म-मरण, में नहीं ला सकते । इस प्रकार कर्म मिथ्या है तो उनका फल जन्म-मरण, ज्ञानी-अज्ञानी दोनों के लिये मिथ्या ही है । विचार कर देखें तो संचित् कर्म का अर्थ पूर्व कर्म, बीते

कल के कर्म, प्रारब्ध कर्म का अर्थ भूतकाल का कर्म और आगामी कर्म का अर्थ भविष्य आयु का कर्म आने वाले कल में होने वाला कर्म । एक पुरुष की आयु में तीन अवस्था, तीन शरीर, तीन काल का भेद है इसी को तीन कर्म की संज्ञा प्राप्त हो गई है । जैसे पूर्व वर्ष का धान वर्तमान में खाते हैं और वर्तमान का बोया धान भविष्य वर्ष में खाते हैं । जब यह ज्ञान हुआ तब संशय नष्ट हो जाते है, जब सब संशय नष्ट होते हैं, तब कल्याण होता है । आत्मा केवल ज्ञान स्वरूप है उसमें बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण की कल्पना अज्ञान से है सदा यही निश्चय करें कि आत्मा अपने आप में स्थित है । न कोई ज्ञानी है और न कोई अज्ञानी ।

कर्म और शरीर एक वस्तु है, कर्म शरीर के बिना सिद्ध नहीं होता और शरीर कर्म के बिना स्थित नहीं रह सकता इसलिए शरीर और कर्म एक वस्तु है । जब तक शरीर का नाश नहीं होता कर्म भी नष्ट नहीं होते, क्योंकि कोई भी जीव एक क्षण को भी अकर्मा नहीं रह सकता ।

न हि कश्चितक्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत । - ३/५ गीता

इसलिए जब शरीर नष्ट हो जाता है कोई भी कर्म नहीं हो सकता, शरीर के साथ कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि कर्मों का कर्ता प्राण, शरीर और इन्द्रियाँ है, जब इन्द्रियाँ और शरीर अपने-अपने कारणों में समा जाते हैं तो उनका कर्म भी साथ-साथ समा जाता है, जब कर्म ही नहीं रहा तो उसका फल क्या मिलेगा । इस प्रकार भी कर्म में जन्म-मरण का सामर्थ्य नहीं है । फिर निराकार वस्तु खण्ड-खण्ड नहीं हो सकती सदा एकरस, अखंड ही रहती है । अनेक शरीर प्रतीत होने पर भी अत्मा अद्वैत ही है, यद्यपि शरीर की क्रिया का आरोप आत्मा में होता है किन्तु पूर्ण वस्तु सदा अक्रिय ही रहती है ।

अस्तु शरीर की चेष्टा केवल शरीर पर्यन्त है, उसके उपरान्त उसका फल कुछ नहीं मिलता । जैसे जाग्रत अवस्था की चेष्टा जाग्रत अवस्था पर्यन्त

है उसके उपरान्त उसका फल स्वप्न में कुछ नहीं मिलता। स्वप्नावस्था का फल स्वप्नावस्था तक ही है उसके उपरान्त सुषुप्ति में कुछ नहीं मिलता, इसी प्रकार शरीर की चेष्टा शरीर पर्यन्त है, उसके उपरान्त उसका फल कुछ नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि शुभ-अशुभ कर्म केवल मन की ही मान्यता है और उनका फल सुख-दुःख, नरक-स्वर्ग भी मनोमात्र है वास्तव में नहीं। वास्तव में एक वस्तु समस्त कल्पना से रहित अपने आप में स्थित है।

विचार और विवेक भी मन से कल्पित है और संशय भी मन से कल्पित है, इसलिए विचार और विवेक से संशय की निवृत्ति होती है, क्योंकि सम सत्ता परस्पर साधक बाधक होती है विषम सत्ता नहीं। मन से रचित कर्म और उनका फल जन्म-मरण विचार द्वारा नष्ट हो जाता है। उसके नाश का कोई दूसरा उपाय न था, न है, न होगा। यह सब मिथ्या शब्द श्रवण किये हुए हैं उन्हें सत्य पुरुषों के वचन द्वारा मिथ्या प्रतीत कर शेष अखण्ड पद में स्थित रहें।

प्रश्न-२१ : मुक्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : मुक्ति नाम समस्त संशयों की निवृत्ति का है, क्योंकि संशय दुःख रूप है अतः दुःख से पूर्ण छुटकारा व स्वरूप की स्थिति ही मुक्ति है। जब यथार्थ ज्ञान से नाम, वर्ण, आश्रम, कर्म, पुण्य-पाप, जन्म-मरण, नरक-स्वर्ग आदि जो श्रोत द्वारा जगत् मैं फैले हैं जिन्हें सुनकर मानकर अज्ञानी जन दुःख भोग रहे हैं ज्ञान द्वारा उन्हें मिथ्या निश्चय कर के वे इनके भ्रम से निवृत्त हो जाते हैं उसी अवस्था को मुक्ति समझी जाती है। तात्पर्य यह है कि वृत्ति की निःसंशय और निर्भय अवस्था ही मुक्ति है। यह नहीं समझना चाहिये कि जब मन में कोई संकल्प न उठेगा तब मुक्ति होगी यदि संकल्प से रहित को ही मुक्ति माना जावे तो पहाड़, वृक्ष, जल आदि भी मुक्त है। फिर तो जड़ता के बिना और किसी भी जीव की मुक्ति हो भी नहीं सकती

। यदि संकल्प से रहित अवस्था को मुक्ति माना जावे तो सुषुप्ति में सर्व संकल्प शून्य हो ही जाते हैं, तब भेद से रहित ज्ञानी, अज्ञानी सभी मुक्त होने चाहिये, फिर किसी को भी शुभ कर्म करने की कोई जरूरत ही नहीं रहेगी, किन्तु प्रतिदिन जाग्रत में संकल्प करके अपना नाना प्रकार के व्यवहार करते हैं इससे सिद्ध होता है कि संकल्प के निवृत्ति होने से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु अज्ञान की निवृत्ति से मुक्ति की प्राप्ति होती है । अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है, इसलिए जब ज्ञान प्राप्त हो तभी मुक्ति की प्राप्ति है । क्योंकि जिसने अपना यथार्थ स्वरूप जान लिया उसके पक्ष में केवल भ्रमरूप जो आवागमन था उस भ्रम का नाश हो जाता है । वास्तव में तो न उत्पत्ति है, न नाश है, न बंध है, न साधक है, न मोक्ष है, न मुक्त है । सत्ता अपने स्वरूप में आप ही स्थित है ।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।३२

आत्मोपनिषद

यदि आवागमन को सत्य माना जावे तो जीव भी अनेक मानना पड़ेंगे और ब्रह्म को भी उनसे भिन्न मानना पड़ेगा और उनकी मुक्ति भी कभी न हो सकेगी जिससे वेद वचन और पुरुषार्थ निरर्थक सिद्ध होंगे । इसलिए आवागमन असत्य और कल्पित है जीव एक है और ब्रह्म से अभिन्न है तथा सदा मुक्त ही है ।

इससे सिद्ध होता है कि जितने भी वचन आवागमन के प्रसिद्ध है वे सारे केवल स्वभावों की शुद्धि के लिए सनातन आचार्यों ने कल्पित करके जीवों पर दया करके उनके दुःख नाश हेतु एवं सुख अनुभूति हेतु लिखे हैं; क्योंकि भय के बिना कोई उत्तम या महत् कार्य पूर्ण नहीं होता । अतः शास्त्रों के रोचक व भयानक वाक्यों को कल्पित जानकर विस्मरण कर देना चाहिये तथा यथार्थ वचन को सत्य समझ मान लेना चाहिये । क्योंकि मुक्ति रोचक

वचन है, आवागमन भयानक वचन है तथा तू वही है यह यथार्थ वचन है । इस शास्त्र में रोचक और भयानक वचनों को छोड़ केवल यथार्थ वचन ही लिखे गये है, क्योंकि यह शास्त्र परम कल्याण रूप ज्ञानी जनों की निधि है । मनुष्य अपने नीच स्वभावों को त्यागकर उत्तम स्वभाव धारण नहीं कर सकता, इसलिए उन्हें भयानक व रोचक वाक्य द्वारा शुद्धि की ओर लाया गया है । जैसे मांता बच्चे को औषध खिलाने हेतु रोचक वचन कहती है, लड्डू आदि देकर फुसलाती है, उसी प्रकार शास्त्रों में रोचक एवं भयानक दोनों प्रकार के वचन है । वास्तव में तो यह जीव ब्रह्म ही है और अपनी सत्ता में सत्य है, न ऊँच है, न नीच है, न दैत्य है, न राजा है, न अधिक है, न कम है, न पुरुष है, न नारी है, न कंगाल है, न धनवान है, न बंध है, न मुक्त है, न स्वामी है, न दास है-केवल सत् चित् आनन्द ही है । यही मंगलमय दृष्टि रखना है ।

मुक्ति कोई वस्तु नहीं है केवल रुचि के लिए यह वचन प्रसिद्ध है । यदि बन्धन सत्य होता तो मुक्ति भी सत्य होती किन्तु बन्ध आजतक किसी को हुआ नहीं तो मुक्त किसे व कौन करेगा ?

बड़ा आश्चर्य है कि जहाँ चल है वहाँ जीव माना गया है और जहाँ अचल है उसको निर्जीव माना गया है । निर्जीव को आवागमन से रहित और चेतन वस्तु जीव को आवागमन के अधीन अज्ञानीजन मानते हैं । जड़ सत्ता को तो सत्य और जन्म-मरण से रहित और चेतन सत्ता जन्म-मरण के आधीन मानना हंसने योग्य कथन है । वास्तव में जड़ चेतन एक ही ब्रह्म की सत्ता है । उनमें एक को आवागमन से रहित और एक को आवागमन के आधीन मानना परमार्थ के विरूद्ध है । परमार्थ में वास्तव में आवागमन नहीं है । वास्तव में एक वस्तु अपने आप में स्थित है, न कहीं आती है, और न कहीं जाती है, न उत्पन्न होती है, न नाश होती है, सदा एकरस अपनी महिमा में विद्यमान है ।

जीव ब्रह्म से भिन्न वस्तु नहीं है और न वह अनेक है जो एक शरीर छोड़ दूसरे शरीर को धारण करेगा । जीव पूर्ण हैं और आवागमन से रहित है । यदि अपने स्वरूप को एक बार यथार्थ रीति से किसी सद्गुरु द्वारा जान ले तो फिर आवागमन तथा मुक्ति का संशय भ्रम कभी भी उत्पन्न न हो ।

यदि कहें कि मरण पर स्थूल शरीर का नाश हो जाता है और सूक्ष्म शरीर वासनानुसार दूसरा शरीर धारण कर लेता है तो यह मानना भी भ्रम है । जैसे जड़-चेतन परमात्मा की सत्ता समान है उसी प्रकार स्थूल सूक्ष्म भी समान है । जो स्थूल है वही सूक्ष्म है और जो सूक्ष्म है वही स्थूल है । प्रथम तो स्थूल का नाश और सूक्ष्म का नाश न होना ही परमार्थ के विरूद्ध है; दूसरी बात नाश जैसा कोई पदार्थ ही नहीं है, केवल रूप का आरम्भ तथा परिणाम है और नाश माना भी जाए तो दोनों का एक साथ होगा, क्योंकि एक दूसरे के संयोग के बिना एक दूसरे रह नहीं सकते । शरीर के साथ छाया का जैसा सम्बन्ध है उसी प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों का भी है । जैसे पांच विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध यह सूक्ष्म तन्मात्रा कहे जाते हैं और आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी ये पाँच भूत स्थूल कहे जाते हैं । यदि विचार से देखें तो इन दोनों का एक स्वरूप है, शब्द और आकाश एक वस्तु है, शब्द के बिना आकाश का कोई स्वरूप नहीं । अतः दोनों आकाश रूप है इसी प्रकार अन्य चारों का है ।

स्थूल व सूक्ष्म दोनों जीव की शक्तियाँ हैं । सृष्टि रूप होकर भासना जीव का स्वभाव है, क्योंकि जीव चेतन है और चेतन का स्वभाव सत्ता स्फूरण है । इसलिए सत्ता स्फूरण वस्तु अपने आप में स्थित है, अज्ञान से उसे आवागमन वाला तथा बंध मोक्ष रूप माना है ।

प्रश्न-२२ : तुरिय अवस्था किसे कहते हैं ?

उत्तर : संकल्प रहित अवस्था को तुरिय कहते हैं, जहाँ केवल आनन्द मात्र रहता है । वही अवस्था परमात्म स्वरूप है । इस अवस्था के ज्ञान का

नाम तुरिय है । सुषुप्ति अवस्था में कोई संकल्प नहीं होता केवल आनन्द रूप अवस्था होती है । जाग्रत अवस्था में विचार या समाधि के आश्रय सुषुप्ति अवस्था को उत्पन्न करना तुरिया कहलाता है । तात्पर्य यह है कि सर्व संकल्प से रहित होकर अपने साक्षी भाव में स्थित होना होता है । इसलिए सुषुप्ति अवस्था और तुरिया में केवल ज्ञान का भेद है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था है और तुरिया उसका ज्ञान है ।

ज्ञानवान जाग्रत अवस्था में सुषुप्ति का अनुभव किया करते हैं और सुषुप्ति में जाग्रत रूप होकर बर्तते हैं । भाव यह कि जाग्रत अवस्था में इन्द्रियाँ और अन्तःकरण के होते हुए भी उनके अपने अपने कार्य करते हुए भी तत्त्व विचार के द्वारा ज्ञानी मुक्त होकर अपने साक्षी सच्चिदानन्द रूप में स्थित रहते हैं । और सुषुप्ति में सब इन्द्रियाँ और अन्तःकरण तथा उनके धर्मों से रहित होकर केवल सच्चिदानन्द रूप है । इसलिए सुषुप्ति को जाग्रत स्वरूप की दृष्टि से कहा है, वास्तव में जाग्रत तथा सुषुप्ति दोनों एक है, भेद इतना है कि जाग्रत में इन्द्रिय और अन्तःकरण के मध्य अपना स्वरूप ज्यों का त्यों प्रतीत नहीं होता है । किसी न किसी साधन से अन्तःकरण तथा इन्द्रियों का दमन करना पड़ता है किन्तु सुषुप्ति में बिना प्रयत्न के ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है, क्योंकि वहाँ अन्तःकरण व इन्द्रियाँ नहीं रहती । अतः जाग्रत से सुषुप्ति उत्तम है इसका मतलब दिन भर सोते ही रहना चाहिये ऐसा भी नहीं । कुंभकर्ण में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ था । तात्पर्य यह कि जाग्रत में सुषुप्ति की तरह संकल्प शून्य साक्षी मात्र बना रहे । जब सत्संग तथा सत् शास्त्र के आश्रय जाग्रत अवस्था में जानता है कि अब भी मेरा वही स्वरूप है जो सुषुप्ति अवस्था में था अर्थात् मैं इन्द्रिय और अन्तःकरण के सम्बन्ध से रहित केवल सत्, चित्, आनन्द रूप हूँ । इसी निश्चय का नाम तुरिया है अर्थात् ज्ञान सहित जाग्रत काल तुरिया है इसके अलावा तुरिया कोई भिन्न अवस्था का नाम नहीं है ।

यदि विचार करें तो सुषुप्ति अवस्था स्वतःसिद्ध समाधि है । सामान्य

जीव स्वतःसिद्ध सहज प्राप्य वस्तु में शान्ति अनुभव नहीं करते और यत्न सिद्ध वस्तु को उत्तम मानते हैं । तत्त्वदर्शी स्वतः सिद्ध वस्तु को उत्तम और यथार्थ जानकर शान्ति प्राप्त करते हैं और यत्न सिद्ध वस्तु को क्षण भंगुर और निरर्थक मानकर उसके लिए इच्छा नहीं करते हैं । इसलिए तत्त्व दर्शियों की दृष्टि को धारण कर स्वतः सिद्ध समाधि पर सन्तुष्ट रहें । जब निज स्वरूप को खोज कर देखोगे तो पता चलेगा कि मैं केवल सत्ता मात्र चिदाकाश रूप हूँ । मुझमें सूक्ष्म, स्थूल जगत् नहीं है और उनके होते हुए भी मैं केवली रूप हूँ । तथा स्वप्न, जाग्रत तथा सुषुप्ति भी नहीं है, क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म, जाग्रत और स्वप्न का ही रूप है और दोनों अवस्था के अभाव का नाम सुषुप्ति है और सुषुप्ति की अपेक्षा से तुरिया नाम कल्पित हुआ । जब तीनों अवस्था मुझ में कल्पित है तो तीनों की अपेक्षा से रखा चतुर्थ नाम तुरिया भी कल्पित है । मैं इन चारों अवस्था से परे इन्द्रियातीत वाणी से परे मन से भी अचिन्त्य आत्म रूप हूँ । मेरा स्वरूप भाव-अभाव से पृथक् उनका प्रकाशक होने से सबसे न्यारा हूँ । इसी ज्ञान का नाम तुरिया है । सुषुप्ति अवस्था में स्वरूप मात्र रहता है प्रपंच नहीं; अतः इस समय भी मैं निष्प्रपंच हूँ ऐसा जानो ।

प्रश्न-२३ : साक्षी आत्मा स्वयं प्रकाश कैसे है ?

उत्तर : ईश्वर का प्रकाश जीव है । जीव का प्रकाश अन्तःकरण है, अन्तःकरण का प्रकाश इन्द्रियाँ है, इन्द्रियों का प्रकाश ही विषय है अर्थात् जगत् है । भाव यह है कि ईश्वर ही जीव रूप है । जीव ही अन्तःकरण रूप है अन्तःकरण ही इन्द्रिय रूप है और इन्द्रिय ही विषय रूप है और विषय ही जगत् रूप है और लय चिन्तन की रीति से उलटने पर विषय इन्द्रिय रूप है, इन्द्रिय अन्तःकरण रूप है । अन्तःकरण जीव है और जीव ईश्वर रूप है इस प्रकार एक अद्वैत वस्तु अपनी महिमा में स्थित है, अज्ञान से भिन्न भिन्न प्रतीत होती है ।

सब रूपवान् पदार्थ नेत्रों द्वारा प्रतीत होते हैं, इसलिए सब रूपवान् जगत् का नेत्रों से सम्बन्ध है, इसलिए सब रूपवान् जगत् नेत्रों में स्थित है । नेत्रों में तिल के समान सूक्ष्म पुतली सब जगत् को विषय करती है, इसलिए सारा ब्रह्माण्ड तिल में स्थित है वह तिल अन्तःकरण की ज्ञानवृत्ति से प्रकाश पाता है इसलिए तिल बुद्धि में स्थित है । बुद्धि अन्तःकरण विशिष्ट चेतन(जिसे जीव कहते हैं) से प्रकाश पाती है इसलिए बुद्धि जीव में स्थित है और जीव विशेषण से रहित शुद्ध चेतन आत्मा है जिसे कूटस्थ और साक्षी भी कहते हैं । इसलिए जीव साक्षी में स्थित है या साक्षी स्वरूप है और साक्षी स्वयं प्रकाश रूप है । इसलिए सब रूपवान् जगत् साक्षी में स्थित होने से साक्षी स्वरूप या परमात्मा स्वरूप है । तात्पर्य यह है कि साक्षी ही अन्तःकरण रूप है या अन्तःकरण के सम्बन्ध से जीव रूप है; जीव अपनी स्फूरण शक्ति से अन्तःकरण रूप है । अन्तःकरण ज्ञान शक्ति से इन्द्रिय रूप है और इन्द्रियाँ प्रकाश शक्ति से विषय रूप है । इसलिए एक ही स्वप्रकाश चेतन अपने आप में स्थित है । इसी प्रकार सब शब्द श्रोत का विषय है, श्रोत बुद्धि का विषय है, बुद्धि जीव से प्रकाश पाती है । जीव साक्षी से प्रकाश पाता है और साक्षी स्वयं प्रकाश है । इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस तथा गंध में भी साक्षी स्वयं प्रकाश है ।

प्रश्न-२४ : मन यदि चंचलता को प्राप्त हो तब क्या कर्तव्य करें ?

उत्तर : यदि मन चंचल हो तो भी ज्ञानवान को इसका भय नहीं मानना चाहिये । आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध नहीं है । मन पाँच तत्त्वों का कार्य है, इसका धर्म हर्ष, शोक, भय आदि है । आत्मा पाँच तत्त्वों से न्यारा है, मन अचल रहे अथवा चंचल, आत्मा सदा एकरस है । जैसे लहरों के उत्पन्न होने से, क्रीड़ा करने से जल विकारी नहीं होता; लहरों का स्वभाव ही चंचलता है और जल सदा अपने गम्भीरता में स्थित है । वैसे ही मन आत्मा की लहर है, डोलता रहे, परन्तु आत्मा सदा एकरस है । आत्मा अगाध, अगम, अचल, अक्षोभ, स्वतः सिद्ध है । ''वही तुम्हारा स्वरूप है'' ऐसे

स्वरूप में सदा मग्न रहो, क्योंकि अपने आपको भूलकर दूसरे के धर्मों को अपने स्वरूप में आरोपित कर भयभीत होना अज्ञान ही है । व्यर्थ क्यों अपनी ही शक्ति की लहर रूप मन से भयभीत होकर भाग रहे हो एवं छुटकारा चाहते हो ? क्यों अपने ही प्रतिविम्ब से आप डर रहे हो ? अपने ही संकल्प एवं संशय में आप बँधे हुए हो तो कौन छुड़ाएगा ? सावधान हो जाओ; आपको कभी न भूलो और शरीर की क्रिया और मन के संकल्प को देख अपने स्वरूप में संशय उत्पन्न न करो । सदा अपने आपको अचल, कूटस्थ और निर्विकार निशचय करते रहो । लौकिक कथा तथा पौराणिक कपोल कल्पित इतिहास विस्मरण कर यथार्थ सिद्धान्त पर निश्चय रखो । हे मोक्षेच्छु ! तुम किसका त्याग करना चाहते हो ? कोई तुम्हारे साथ तो चिपटा हुआ प्रतित नहीं होता, जिससे तुम भिन्न होकर एकान्त देश में या ध्यान की गुफा में जा छिपना चाहते हो ? केवल अज्ञान के साथ तुम्हारी बुद्धि तदाकार याने एकाकार हो रही है जिससे तुम्हें अपना वास्तविक स्वरूप भूल रहा है और कल्पित स्वरूप निश्चय होकर प्रतीत हो रहा है, किन्तु तुम्हारा वास्तविक स्वरूप नाम, रूप, जाति, आश्रम, परिणाम तथा आवागमन से रहित चिदाकाश है ।

प्रश्न-२५ : सुषुप्ति अवस्था को ज्ञानी जाग्रत से उत्तम क्यों कहते हैं ?

उत्तर : अज्ञानी इस रहस्य को नहीं जानते हैं कि सुषुप्ति में जीव, शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण की उपाधि से रहित होकर केवल परमात्मा के साथ एकी भाव को प्राप्त होने के कारण बिना विषय भोग के आनन्द स्वरूप होता है । जिस विवेकी ने जाग्रत काल में सत्संग के द्वारा यह निश्चय किया है कि जाग्रत अवस्था की तरह स्वप्न अवस्था में भी जब मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ तो सुषुप्ति में बिना किसी उपाधि के आनन्दघन रूप होने में तो कोई सन्देह ही नहीं । फिर जाग्रत अवस्था में तो व्यवहार की समस्या, पराधीनता, शरीर की योग्यता तथा विचार, सत्संग, ध्यान, समाधि की अपेक्षा रहती है तब

कहीं क्षणभर वृत्ति एकाग्रता को प्राप्त हो पाती है । सुषुप्ति अवस्था में वह आनन्द निरामय प्राप्त हो जाता है इसलिए जाग्रत से सुषुप्ति उत्तम है । क्योंकि जिस आनंद को जाग्रत काल में बहुत काल अभ्यास और समाधि के उपरान्त प्राप्त किया जाता है, सुषुप्ति में वह बिना यत्न के स्वतःसिद्ध प्राप्त हो जाता है । इसलिए सुषुप्ति अवस्था में प्रत्येक प्राणी अपने आप में स्थिर रहता है, किन्तु अज्ञानी यह नहीं जानता कि सुषुप्ति में वह कहाँ रहता है ? किस अवस्था को प्राप्त होता है ? किसके साथ एकता को पाता है ? इसलिए वह सुषुप्ति काल को व्यर्थ समय का नष्ट करना मानता है, किन्तु इसी सुषुप्ति अवस्था के लिए ज्ञानवान जाग्रत काल में अभ्यास के बल से प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है । क्योंकि इस अवस्था के बिना निरुपाधिक आनन्द एवं स्वरूप का अनुभव नहीं होता । और ज्ञान के बल से वह जानता है कि सुषुप्ति अवस्था में भी मैं केवल सच्चिदानन्द स्वरूप वाला हूँ । आनन्द घन स्वरूप को यद्यपि अज्ञानी भी नित्य, प्रति सुषुप्ति में प्राप्त होता है तथापि जानता नहीं कि मैं सुषुप्ति में किस अवस्था को प्राप्त हुआ था । और उठने के बाद पुनःउसी कल्पित नाम, रूप, जाति, वर्ण, आश्रम और व्यवहार में लग जाता है । और अपने अज्ञान का दुःख आप ही पाता है ।

सुषुप्ति में जो आनन्द प्राप्त होता है वह वृत्ति तथा विषय की अपेक्षा रखे बिना निरपेक्ष तथा स्थिर आनन्द है और जाग्रत में वही आनन्द वृत्ति सापेक्ष है, इसीलिए सुषुप्ति अवस्था का आनन्द जाग्रत अवस्था के आनन्द से श्रेष्ठ माना गया है । क्योंकि जाग्रत काल में संतों के संग, शास्त्रों के विचार, स्वरूप के मनन और निदिध्यासन, मन के उपशम, ध्यान, समाधि, एकांत सेवन और मौन की सहायता जीव को आनन्दार्थ अपेक्षित रहती है और सुषुप्ति अवस्था में जीव को बिना सब प्रयन्त किए आनन्द स्वतःसिद्ध प्राप्त हो जाता है ।

भाव यह है कि जीव परमात्मा रूप होता है । जिस अवस्था को योगीश्वर योग अभ्यास से प्राप्त करना चाहते हैं और प्राप्त नहीं होती है, वही

सुषुप्ति अवस्था में योग आदि साधनों के बिना ऐसी परम गम्भीर, परम तृप्त, परम शान्त,परम मौन, परम निर्वाण और परम पवित्र अवस्था सहज प्राप्त हो जाती है ।

ज्ञानी सुषुप्ति के आने के पूर्व, सुषुप्ति के समय तथा सुषुप्ति के उपरान्त भी आनन्द रूप होता है । इसलिए वह कल्पित बन्धनों से मुक्त निजानंद में मस्त रहता है ।

सुषुप्ति जाग्रत से उत्तम कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि बिस्तर पर पड़े सोते रहें, बल्कि सुषुप्ति में हम जिस प्रकार समस्त अहंकार से रहित केवल सत्ता मात्र, साक्षी मात्र, ज्ञान मात्र, बोध मात्र रहते हैं उसी प्रकार के होने का निश्चय जाग्रत के समय भी रखें । देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण की क्रियाओं को रोकने का प्रकृति विरोधी कर्म न करें ।

प्रश्न-२६ : हमें अपने स्वरूप का भान क्यों नहीं होता जैसे अन्य-अन्य विषयों का भान होता है ?

उत्तर : आत्मा प्रकाश को छोड़कर किसी अवस्था में नहीं रहता । प्रकाश का अर्थ ज्ञान है अर्थात् तीनों अवस्था में आत्मा ज्ञान स्वरूप है । किसी भी अवस्था में सत्य वस्तु अपने स्वरूप में परिवर्तन नहीं करती है । इसलिए तीनों अवस्था में आत्मा कभी भी अज्ञान रूप नहीं होती । आत्मा में अज्ञान का अत्यन्त अभाव है । अज्ञान का अर्थ है न जानना । जब आत्मा सदैव ही ज्ञान स्वरूप है तब न जानना धर्म उसमें कैसे आरोपित किया जा सकता है । स्वरूप तो हमारा आत्मा है और आत्मा ज्ञान स्वरूप है । इसलिए हम सदा ज्ञान स्वरूप हैं, कभी अज्ञान स्वरूप नहीं होते । यह शंका आत्मा के अज्ञान से हुई है अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण ही यह भ्रम हुआ है । तुम अपने आपको पहचानो । तुम स्वयं ही स्वरूप हो जिसके जानने या देखने की अज्ञानवश इच्छा कर रहे हो और फिर पूछते हो कि हमें अपने स्वरूप में क्यों अज्ञान रहता है ? इसलिए ऐसा निश्चय होता है कि तुम

अपने आपको देह, इन्द्रिय, प्राण या अन्तःकरण रूप मानकर ही ऐसा प्रश्न कर रहे हो । तुम अपने आपको भिन्न तथा स्वरूप को अपने से भिन्न कुछ और रूप वाला मानने हो, यही अज्ञान है । तुम स्वयं ही आत्म स्वरूप हो और सदा अपने आप में ही स्थित हो । देखो मुझे खबर नहीं, यह कहना बुद्धि का धर्म है । इस बेखबरी में भी आत्मा की अज्ञानता सिद्ध नहीं होती, किन्तु यह सिद्ध होता है कि कोई सत्ता ऐसी फिर भी शेष रहती है जो इस बेखबरी को भी प्रकाश करने वाली थी फिर वह अज्ञात कैसे है ?

प्रश्न-२७ : आत्मा यदि स्वयं प्रकाश है तो फिर अंधकार में प्रकाश का उपयोग क्यों करना पड़ता है ?

उत्तर : ज्योति अथवा प्रकाश का अर्थ सूर्य की तरह नहीं, क्योंकि सूर्य तो हमारी दृष्टि से उदय-अस्त धर्म वाला है और ब्रह्मात्मा उदय-अस्त से रहित सदा एकरस है । इसलिए आत्मा चेतन प्रकाश है सूर्य, चन्द्रवत् जड़ प्रकाश नहीं है । अर्थात् ज्ञान प्रकाश है । यहि ज्ञान, अंधकार तथा प्रकाश दोनों को जानने वाला, प्रकाश करने वाला प्रकाशक है । सूर्य का प्रकाश केवल नेत्रों को प्रकाशित करता है और वह भी बंद नेत्र को या अंधेरी कोठरी में प्रकाश नहीं पहुँचा सकता, इसलिए सूर्य, चन्द्र असमर्थ, सीमित व एकदेशीय हैं । सूर्य नेत्र को छोड़ किसी दूसरे अंग को प्रकाशित नहीं करता । परन्तु ज्ञान का प्रकाश सर्वांग, अन्तःकरण व विषय को भी प्रकाश करने वाला है । इसलिए सर्वत्र समान व पूर्ण है तथा स्वयं प्रकाश ज्ञान स्वरूप है । उसमें अन्तर व बाहर की कल्पना नहीं है अपने आप में ही स्थित है । जगत् भी ज्ञान स्वरूप है, अंधेरा भी ज्ञान स्वरूप है और प्रकाश भी ज्ञान स्वरूप है । मानो समस्त लोक ही ज्ञान स्वरूप है और समस्त देव भी ज्ञान स्वरूप है । क्योंकि बिना ज्ञान के किसी भी वस्तु का कोई भी परिचय प्राप्त नहीं होता है । ज्ञान के द्वारा ही समस्त लोक परलोक की सिद्धि हो रही है । ऐसे महान् प्रकाश स्वरूप ज्ञान के आगे अनन्त सूर्य भी दीपक तथा तारों के तुल्य भी शोभित नहीं हो सकते हैं । यदि अन्धेरे को आत्मा प्रकाशित न करे तो यह अंधेरा है ऐसा

कौन देखकर बता सकेगा ? ब्रह्म देश, काल, वस्तु के भेद से रहित पूर्ण है । सूर्य का प्रकाश शरीर के बाहर ही प्रकाश करता है किन्तु अन्दर अन्तःकरण, गुरदा, तिल्ली, मेद, हृदय, रक्त, माँस, गर्भाशयादि को नहीं । वह कौन है जो सूर्य के प्रकाश के बिना अन्दर व बाहर तीनों अवस्था में प्रकाश करता है ? वह ब्रह्मात्मा ही है और उनका स्वरूप ज्ञान मात्र ही है, ज्ञान ही यथार्थ प्रकाश है । सब रूपों में वही विद्यमान है, जैसे एक ही ज्ञान पंच इन्द्रिय विषय के रूप में होता है ।

प्रश्न-२८ : बुद्धि को निश्चल किस प्रकार करें ?

उत्तर : हे आत्मन ! बुद्धि निश्चय करने की वृत्ति को ही कहते हैं । अर्थात् अन्तःकरण की निश्चय वृत्ति ही बुद्धि है । जब बुद्धि सत्य वस्तु का निश्चय करती है तो बुद्धि को अचल अवस्था मानी जाती है और जब बुद्धि असत्य वस्तु का निश्चय करती है तो उसे विक्षिप्त कहते हैं । सत्य वस्तु आत्मा है मिथ्या वस्तु शरीर व जगत् है । जब तक पुरुष अपने को सिर से पाँव तक शरीर मात्र जान विशेष नाम, गौत्र, वर्ण एवं कर्मों का कर्ता-भोक्ता मानता है, तब तक उसकी बुद्धि निश्चल नहीं होती । जब देहसंघात् से अपने को शुद्ध, चेतन आत्मा एवं शरीर से रहित नाम, रूप, जाति, आश्रम, वर्ण से भिन्न पिता, पुत्र, पत्नी, मां के सम्बन्ध से रहित अकर्ता अभोक्ता मानता है, उस समय बुद्धि अचल पद को प्राप्त होती है । दीर्घकाल अभ्यास के उपरान्त बुद्धि की चंचलता निवृत्त होती है । बुद्धि को चंचल करने वाली एक मात्र शरीर की ममता है । जब ममता दूर हो जावे तब शांति और विश्राम है । सदा अपने वास्तविक स्वरूप को केवल निर्गुण, निराकार, ज्ञान मात्र, चिद्घन, निर्विकार, कूटस्थ रूप ही स्मरण रखना बुद्धि की निश्चलता है । देह, इन्द्रिय, प्राण व अन्तःकरण की क्रिया एवं सामाजिक लौकिल व्यवहार भी अपनी जगह ज्यों का त्यों चलता रहेगा, किन्तु अन्दर से अपने वास्तव स्वरूप का निश्चय उसी प्रकार बना रहता है जिस प्रकार अज्ञानी को अपने नाम, जाति का साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान होता है कि मैं ही देवकुमार ब्राह्मण हूँ

किन्तु अपने नाम, जाति पर कभी संदेह नहीं होता है । ऐसा ही ज्ञानीकों अपना आत्म स्वरूप का निश्चय निश्चल वुद्धि में होता है ।

प्रश्न-२९ : विचार किस प्रकार किया जाता है ?

उत्तर : विचार का अर्थ सत्य असत्य का विवेक करना है कि इस जगत् और शरीर में सत्य वस्तु क्या है और असत्य वस्तु क्या है ? जब इस विचार द्वारा यह ज्ञात हो जावे कि शरीर और जगत् असत्य है । तब यह विचारे की मैं आत्मा हूँ या अनात्मा ? जब यह निश्चय हो जावे कि मैं आत्मा हूँ तब विचारे कि मुझ आत्मा व परमात्मा मैं कौन सत्य है, व क्या भेद है ? जब मालूम पड़ा कि परमात्मा और आत्मा सत्य है, तब यह सोचे कि आत्मा परमात्मा से भिन्न है या अभिन्न ? विचार करने से ज्ञात होता है कि दोनों के सच्चिदानन्द लक्षण होने से एक रूप है । क्योंकि एक धर्म वाली वस्तु सदा समान होती है । केवल शरीर की उपाधि से आत्मा तथा जगत् की उपाधि से परमात्मा एक ही सत्य वस्तु के दो नाम कल्पित हुए है । अतः शरीर व जगत् को असत्य जान विस्मरण कर दे एवं आत्मा को परमात्मा से अभिन्न जान सदा अपने यथार्थ स्वरूप के ध्यान में रहे । देह क्रिया के समय भी उनसे अपने को न्यारा, साक्षी जाने । जब मन सत्य आत्मा का चिन्तन करे तो उसे आत्म ध्यान या समाधि जाने । जब देह का चिन्तन करे तो उससे पृथक् साक्षी निश्चय रखे ।

प्रश्न-३० : अनाहद ध्वनी क्या है और उसका क्या फल है ?

उत्तर : यह शरीर में रक्त तथा पवन के गमनागमन के द्वारा उत्पन्न प्रतिध्वनी शब्द है, जो कल्पित है । इसको सुनने से सुनाई पड़ता है, बाहरी व्यवहार में मन होने से नहीं सुनाई पड़ता । इसको सुनने हेतु शरीर के अंगों मे कंठ, त्रिकुटी, तालु, नासाग्र, ब्रह्मरन्ध, नाभि आदि पर ध्यान केन्द्रित करना समय का नष्ट करना है । बाहर ढोल, मृदंग, पखावज, शंख के आवाज प्रतिदिन मन्दिर में सुनने पर ही कुछ लाभ नहीं तो अन्दर सुन लेने से

भी कोई विशेष लाभ नहीं मिलने वाला, केवल बच्चों को रिझाने के लिए ध्वनियाँ है । योगीजन शरीर को कष्ट देते रहते हैं इससे कोई परमप्रयोजन सिद्ध नहीं होता । प्राणायाम के साधक बहुत से रोग से ग्रस्त होकर मरते देखे जाते हैं । अपने आपको भूल कर अज्ञान कल्पित ध्वनी, शब्द, रूप में फंसना अज्ञान ही है ।

प्रश्न-३१ : स्वरूप चिन्तन किस प्रकार करना चाहिये ?

उत्तर : निदिध्यासन द्वारा स्वरूप का चिंतन करना चाहिये अर्थात् वैराग्य द्वारा मन को अनात्म विषयों से हटा आत्माकार वृत्तियों का सतत चिन्तन करना चाहिये कि मैं सत्य हूँ, चेतन हूँ, कूटस्थ हूँ, निर्विकार हूँ, अजन्मा हूँ, अमृत्यु हूँ, अव्यक्त हूँ, ब्रह्म हूँ, स्वच्छ हूँ, पूर्ण निर्लेप और असंग हूँ । मैं साक्षी आत्मा और स्वयं प्रकाश हूँ । मैं स्वतःसिद्ध हूँ, नित्यतृप्त हूँ, सनातन हूँ, चिन्मात्र हूँ, अद्वैत हूँ, ओंकार हूँ, परमात्मा हूँ, केवल हूँ, अतिसूक्ष्म हूँ, अगोचर हूँ, अनाम हूँ, अकाम हूँ, सब में रमण करने वाला राम हूँ, और सब में वास करने वाला वासुदेव हूँ, द्रष्टा हूँ, नित्य उदय-अस्त से रहित हूँ, शिव स्वरूप हूँ, अचल हूँ, अमल स्वरूप हूँ, अमन हूँ, निरामय हूँ, निज स्वरूप हूँ, ज्ञान स्वरूप हूँ, अटल हूँ, निर्मल हूँ, निरहंकार हूँ, निर्द्वन्द हूँ, अभेद और एक हूँ, मैं सामान्य सत्ता हूँ, निरंजन हूँ, अखण्ड हूँ, निर्विकार निर्विध्न हूँ, सत रूप हूँ, चित रूप हूँ, आनन्द रूप हूँ, अशोक हूँ, अलोभ हूँ, अमोह हूँ, अक्रोध हूँ, अनुपम हूँ, अपार हूँ, अनादि अनन्त हूँ, परम प्रकाश हूँ, नित्य स्वस्थ हूँ, निर्विक्षेप हूँ, निरावलम्ब हूँ, अधिष्ठान हूँ, सर्वाधार हूँ, ध्येय हूँ, पुज्य हूँ, परम पावन मौन हूँ, निर्वाण रूप हूँ, निरुपाधिक हूँ, सर्व त्रिपुटियों से रहित उनका प्रकाशक साक्षी हूँ । अभोक्ता हूँ, अदृष्ट हूँ निस्पन्द रूप हूँ, अवाच्य हूँ, नित्य प्राप्त हूँ, सब कल्पना से रहित देश, काल, वस्तु के भेद से रहित हूँ, तीन काल से न्यारा हूँ, तीन अवस्था से न्यारा हूँ, तीन शरीर, पंच कोश से मुक्त हूँ, मेरी मुझे नमस्कार है । इस रीति से अनात्म चिन्तन से रहित हो अपने यथार्थ स्वरूप को चिरकाल तक ध्यान या चिन्तन

करे एवं जब अभ्यास के परिणाम स्वरूप आनात्म पदार्थों का अत्यन्त अभाव बुद्धि में निश्चय होकर केवल निज स्वरूप सर्वदा साक्षात् अपरोक्ष रहे । स्वरूप के बिना द्वैत कुछ न फुरे और जब फुरे तभी उसे वैराग्य एवं विवेक द्वारा निवृत्त कर दे कि ब्रह्मलोक तक परिणामी एवं असार है । अष्ट सिद्धि कपोल कल्पित बालकों का खेल है । मान, प्रभुता, जगत् की चतुराई केवल बन्धन रूप है । ईश्वर तथा उनके लोक सब अपने मन की कल्पना है, सर्व लौकिक रीतियाँ केवल कपोल कल्पित है । इस प्रकार के चिन्तन करते-करते जब वृत्ति एक क्षण स्वरूपाकार स्थित हो जाए वही परमानन्द अवस्था है । उस अवस्था को अनुभव करके उसी में स्थित रहो । इसी अवस्था का नाम निर्वाण है । इसी को तुरीयातीत् पद कहते हैं और यही जीवन्मुक्त अवस्था का विलक्षण आनन्द है ।

प्रश्न-३२ : जगत् में विभिन्नता के दिखने पर समता कैसे लाऐं ?

उत्तर : संसार प्रवाह रूप, अनादि से, अपने स्वभाव में स्थित है । कोई पदार्थ नवीन अथवा आश्चर्य रूप नहीं है । केवल नाम और रूप की विलक्षणता से अनेकता, विचित्रता प्रतीत हो रही है, अन्यथा अद्वैत वस्तु अपने आप में स्थित है । नाम, रूप केवल मन में स्थित है, और मन अद्वैत वस्तु में तरंगवत है और तरंग जल से भिन्न नहीं होती, इसलिए नाम, रूप जगत् भी अद्वैत रूप है, ऐसी दिव्य दृष्टि से तत्त्ववेत्ता अपना दर्शन स्वयं सर्वरूप में करता है, यहि दृष्टि परम मंगल एवं धारण करने योग्य है । नाम, रूप का निश्चय चित्त को चंचल बनाता है और अद्वैत आत्मा का निश्चय चित्त को स्थिर निश्चल करता है । चंचलता में दुःख और निश्चलता में सुख है । जो कुछ पाँच इन्द्रियों से ग्रहण होता है और जो कुछ अन्तःकरण का विषय होता है उसका विस्मरण कर जो शेष रहे उसी में स्थिति का अभ्यास करते रहे कि वह शान्त पद ही मैं हूँ, तब सब में समता स्वतः प्रकट रूप दिखेगी । किसी वस्तु को नष्ट नहीं करना है न किसी के गुण धर्म स्वभाव को बदलना है । केवल यथार्थ ज्ञान जिस प्रकार है उसी प्रकार समझना है ।

शरीर और इसकी भिन्न-भिन्न अवस्था, अन्तःकरण और उनकी भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ सब चेतन का विवर्त और विलास है। जैसे तरंग जल का विलास है, जल में ही उत्पन्न तथा लय होती रहती है, उसी प्रकार शरीर, अवस्था तथा वृत्ति चेतन का विलास है, यह सदा इसी प्रकार रहते हैं, चेतन नाम सत्ता स्फुरण का है और सत्ता स्फुरण सदा अपने स्वभाव में स्थित है। इसलिए शरीर, अवस्था तथा वृत्तियाँ चेतन का स्वभाव होने से इसी प्रकार रहेंगे। इनके नाश करने से कोई प्रयोजन नहीं और न नाश ही हो सकते हैं, क्योंकि सत स्वरूप से भिन्न ये कुछ नहीं है, केवल सत ही है। अस्तु यहि निश्चय करना है कि सब प्रतीतियाँ एक ही चेतन मात्र है। यही यथार्थ दर्शन है, इसे उपनिषद् में ब्रह्मज्ञान कहा है। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान से निश्चय हुआ कि मैं ही जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति रूप हूँ। मैं ही अन्तःकरण और उसकी अनन्त वृत्तियाँ हूँ। मैं ही तीन शरीर, पंचकोश हूँ। मुझ से पृथक् किंचित् भी नहीं है, बल्कि यह सब कुछ नहीं है मैं ही अपनी सत्ता में विद्यमान हूँ। इस प्रकार का निश्चय ही शान्ति समता को देने वाला है। इस प्रकार शरीर होते हुए अशरीरी, क्रिया होते निष्क्रिय, भोक्ता होते हुए अभोक्ता होकर अपने को मुक्त समझे।

प्रश्न-३३ : आत्म अभ्यास करना ज्ञानी हेतु कर्तव्य है या नहीं ?

उत्तर : ज्ञानी अज्ञानी सब ही सब समय आत्म अभ्यास ही कर रहे हैं कोई भी क्रिया आत्म अभ्यास के बिना नहीं हो रही है। जैसे कोई भी अलंकार बिना स्वर्ण दर्शन के नहीं दिखता बल्कि सभी को जाने-अनजाने में प्रथम स्वर्ण दर्शन ही हो रहा है, किन्तु स्वर्ण का भान नहीं हो रहा है। उसी प्रकार अभ्यास स्वतः हो रहा है परन्तु करने वाले को आत्मा का निश्चय याने पहचान नहीं है कि यह सब कुछ नाम, रूप, शब्द, स्पर्श, रस, गंध के रूप में जो भी इन्द्रियों के द्वारा जानने में आ रहा है सब आत्मा ही है। एक ही ज्ञान पांच इन्द्रिय द्वारा पांच प्रकार से प्रतीत हो रहा है जैसे एक ही शुद्ध प्रकाश सर्कस, थिएटर, ड्रामा, नाटक आदि स्थान में विभिन्न रंगीन कागजों

की सहायता से वह शुद्ध प्रकाश नीला, पीला, हरा, बैगनी, नारंगी, लाल, गुलाबी आदि प्रतीत होता है । इसी प्रकार अपना स्वरूप ज्ञान ही शब्द स्पर्शादि रूप में प्रतिविम्बित हो रहा है । जब तुम स्वयं ही सच्चिदानन्द रूप हो तो फिर अभ्यास किसका करना चाहते हो ? तुम्हारा स्वरूप नित्य प्राप्त है इस निश्चय को परिपक्व करना ही आत्म चिन्तन या आत्म अभ्यास है । जब ऐसा यथार्थ दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान होता है, तब स्वभाविक ही निर्विकल्प अथवा सहज समाधि रहती है । देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण अपने-अपने धर्मों और स्वभावों में बरतते हैं, परन्तु तत्त्वदर्शी तो उनकी भिन्न-भिन्न चेष्टा में भी किसी प्रकार का अपने से प्रथक विकल्प नहीं करता, सदैव समान आत्म अवस्था में रहता है । यही ब्राह्मी स्थिति ेहै जिसे एक बार गुरु कृपा से पाकर पुनः मोहित नहीं होता ।

संसार में सब त्रिपुटियों से बंधकर कल्पित वाद-विवाद में, मन रचित कर्मों में, व उनके फलों में आसक्त होकर स्वतः सिद्ध, नित्य प्राप्त, अवस्था का रस नहीं भोगते हैं । इसलिए अविद्या के साधन तथा सघन जंगलों में गीदड़ों की तरह रूढ़ियों के पीछे, मतों के पीछे, शब्दों के पीछे मतवाले होकर भ्रांति के जाल में फंसकर अन्धकूप में पड़े दुःख भोगते रहते हैं ।

सत्य तो यह है कि जब तक मन एवं उसके संकल्प-विकल्प को आत्म रूप नहीं जानोगे तब तक किसी भी साधन से सुखी एवं शांत नहीं हो सकते ।

पूर्ण दर्शी पुरुष की दृष्टि में गुरु-शिष्य, ऊँच-नीच, पापी-पुण्यात्मा की कल्पना नहीं रहती । वह ऐसी अवस्था का अनुभव करता है जो अगोचर और अगम्य है । वह अपने आप में स्थित रहता है । न जीव, न ईश, न ब्रह्म, न पुज्य, न पूजक, न न्यून, न अधिक, न सामान्य, न विशेष, न कर्ता, न भोक्ता, न फल, न फलदाता, न यह, न वह, सब मन रचित आरोप

से ऊपर अपने अद्वैत स्वरूप में सर्वदा स्थित रहता है । वह पुरुष पूर्ण है उसे अब किस हेतु से किसका अभ्यास करना शेष रहेगा ? ऐसी अवस्था के अनुभव के बिना कृत्य-कृत्यता प्राप्त नहीं होती । साधना, अभ्यास का बोझा अज्ञानीजनों को ही ढोना पड़ता है । ज्ञान होने पर अपने को ज्ञानी दूसरों को अज्ञानी अथवा दूसरों से अपने को अधिक मानना, पूज्य मानना, समर्थ जानना महान् अज्ञान है । जब एक ब्रह्म ही सर्व रूप में पूर्ण है तब कौन उत्तम, कौन अधम ? कौन साधक, कौन सिद्ध तथा कौन किसका अभ्यास करे ?

प्रश्न-३४ : तत्त्ववेत्ता जगत् को किस दृष्टि से निहारता है ?

उत्तर : तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में सर्व पदार्थ उसे अपनी आत्मा के प्रतिबिम्ब रूप दृष्टि गोचर होते हैं । बल्कि आत्मा रूप ही प्रतीत होते हैं । एक ही ब्रह्म समस्त चराचर की वस्तुओं का कारण है । इसलिए सर्व सृष्टि का एक रूप है । यद्यपि एक दूसरे की अपेक्षा से पदार्थ भिन्न रूप, गुण, स्वाद व धर्म के प्रतीत होते हैं, परन्तु अधिष्ठान कारण की अपेक्षा सर्व पदार्थ अभिन्न है । जैसे नेत्र, कर्ण, रसना, घ्राण आदि इन्द्रियाँ एक दूसरे की अपेक्षा भिन्न-भिन्न गुण, धर्म, कर्म, स्वभाव वाले प्रतीत होते हैं परन्तु शरीर दृष्टि से समस्त इन्द्रियाँ अभिन्न है, क्योंकि अधिष्ठान में समस्त कल्पित अध्यस्त वस्तु का उपाधि भेद टूट जाता है । जैसे एक आकाश में स्थित विभिन्न शरीर एवं वस्तु केवल आकाश रूप ही है उसी प्रकार समस्त जगत् ब्रह्म अधिष्ठान में स्थित होने से केवल एक ब्रह्मरूप ही है । एक ही शरीर में सब इन्द्रियाँ स्थित है और एक ही अन्न जल से सबका पालन होता है इसलिए उनका रूप परिवर्तन केवल दृष्टि भ्रम है । वास्तव में भेद नहीं है । वैसे ही पंच भूत एक दूसरे की अपेक्षा से व्यभिचारी प्रतीत होते है, परन्तु अधिष्ठान रूप कारण की अपेक्षा से सर्व भूत भौतिक पदार्थ अभिन्न है । सब भूत एक ही अधिष्ठान में स्थित है और एक ही चेतन सत्ता से सत्ता स्फुरण पा रहे हैं । इसलिए उनका नाम, रूप, गुण, स्वभाव परिवर्तन केवल दृष्टि भ्रम मात्र है । वास्तव में तो एक

अद्वैत घन स्वरूप वस्तु अपने आप में स्थित है । ऐसा निश्चय कर तत्त्ववेत्ता लीला और विनोद के लिए अपनी यात्रा अपने आप में स्थित होकर ही करता है और अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों का अवलोकन दर्शन कर मुग्ध रहता है । भिन्न-भिन्न स्वरूप में स्थित होकर अभिन्न दर्शन करता है ।

प्रश्न-३५ : जब मैं यह देह त्याग कर विदेह मुक्त हो गया तो कहाँ रहूँगा ?

उत्तर : आप में ही आप रहेंगे । अर्थात् जहाँ अब हो वही तब रहोगे । क्योंकि पूर्ण वस्तु में कहाँ और जहाँ, यहाँ और वहाँ की हद नहीं है । जैसे घटाकाश घट के फूटने से कहीं आता-जाता नहीं, जहाँ है वहीं बना रहता है । वैसे ही तुम देह त्याग होने से कहीं नहीं जाओगे । जहाँ हो वही रहोगे । जैसे अलंकार के टूट जाने पर स्वर्ण जहाँ है वही रहता है वह न कहीं आता है और न कहीं जाता है । भाव यह है कि चिदाकाश पूर्ण है अन्दर बाहर एकरस स्थित है । देह की उपाधि से भिन्न प्रतीत होता है । जब उपाधि निवृत्त होती है तब भेद प्रतीत नहीं होता । जैसे समुद्र में एक घड़ा पड़ा है उसके अन्दर-बाहर जल पूर्ण है परन्तु घट के आकार से अन्दर-वाहर का भेद प्रतीत होता है परन्तु जब घड़ा टूट जाता है तब अन्दर व बाहर का पानी एक रूप प्रतीत होता है, किसी प्रकार भेद प्रतीत नहीं होता । वैसे ही चिदाकाश रूप सागर में शरीर रूप घट खड़ा है, उसके अन्दर और बाहर चिदाकाश पूर्ण है परन्तु शरीर के कारण चिद् आकाश से भेद प्रतीत होता है । जब शरीर प्रारब्ध पूर्ण होने पर समाप्त हो जाता है या ज्ञान पूर्ण होने पर अदृश्य हो जाता है तब अन्दर और बाहर का कोई भेद नहीं रहता, केवल चिदात्मा ही रहता है । यही वास्तव में अपना स्वरूप है और नित्य स्थित है । घट की उत्पत्ति के पूर्व आकाश जहाँ रहता है घट होने पर भी वहीं रहता है और घट के टूट जाने पर भी वहीं रहता है । व्यापक सत्ता में इधर-उधर, ऊपर-नीचे का भेद नहीं रहता । उसी प्रकार आत्म आकाश पूर्ण और अखण्ड है । शरीर की उत्पत्ति से पूर्व, शरीर उत्पत्ति के उपरान्त तथा शरीर के लय होने के पश्चात्

जहाँ का तहाँ अपने आप में ही स्थित रहता है । इसलिए सिद्ध हुआ कि जीवात्मा अपने आप में ही स्थित रहता है ।

प्रश्न-३६ :वासना युक्त तथा वासना रहित पुरुष की क्या गति होती है ?

उत्तर : वासना, कामना, इच्छा, अन्तःकरण का धर्म है और चैतन्य आत्मा इससे प्रथक है इसलिए वासना के होने व न होने से आत्मा की कोई क्षति या उन्नति नहीं होती । वासना के कारण आत्मा न पुण्यात्मा होता है, न पापात्मा बनता है, न बन्धन में पड़ता है और न मुक्त ही होता है यह सब भ्रम से ही कल्पित हुए है । केवल अज्ञानीजनों ने अन्तःकरण के धर्मों को आत्मा पर आरोपित कर लिया है और उसी के अनुसार आत्मा का जन्म-मरण मान लिया है । वास्तव में आत्मा असंग, निर्विकार, निष्क्रिय, शूद्ध, पूर्ण, अखण्ड रूप है । यदि वासना आत्मा का धर्म माना जावे तो सुषुप्ति में भी वासना दिखाई पड़ना चाहिये, किन्तु सुषुप्ति में आत्मा के अलावा कोई भी अन्य प्रतीत नहीं होता अर्थात् न वहाँ इन्द्रियाँ है, न उनके भोग है, न उनकी वासना रूप अन्तःकरण ही है । इसलिए सिद्ध होता है कि वासना आत्मा में नहीं है किन्तु अन्तःकरण में है और अन्तःकरण जब क्षणिक मृत्यु रूप सुषुप्ति में ही नहीं रहता अपने कारण अज्ञान में लीन हो जाता है तब मृत्यु के क्षण में अन्तःकरण कैसे रह सकेगा ? शरीर रहते ही सुषुप्ति में वासना का आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तब मृत्यु के बाद शरीर ही नहीं तो अन्तःकरण कहाँ से रहेगा ?

वासना जड़ है, आत्मा चेतन है । आत्मा की चेतनता से वासना सिद्ध होती है । चेतन आत्मा जड़ वासना के अधीन होकर जन्म-मृत्यु ग्रहण करती है ऐसा कहना अज्ञान मात्र ही है । वासना आत्मा को जन्म-मरण के बन्धन में नहीं ला सकती और न वासना का त्याग आत्मा को जन्म-मरण से मुक्त कर सकता है । आत्मा स्वतःसिद्ध, नित्यमुक्त, सनातन, नित्य मुक्त,

नित्य तृप्त, अपने आप में स्थित है । आत्मा शरीर संयोग से जहाँ है शरीर वियोग के समय भी वही रहेगी उसमें कोई गति नहीं है, उस ध्रुव के आधार से ही सब गतिमान है । वासना का प्रभाव आत्मा पर बन्ध-मोक्ष रूप नहीं पड़ सकता । अज्ञानकाल में आत्मा जिस रूप में शरीर में स्थित रहता है, ज्ञानकाल तथा देह छूटने के उपरान्त भी उसी रूप में रहता है, क्योंकि आत्मा कूटस्थ हैं इतना भेद है कि वासना युक्त मन यत्न और प्रयत्न से सदा दुःख और चिंता के ताप में तपा करता है, और वासना से रहित मन बिना यत्न के सुख और शांति बनी रहती है । हमें इच्छाओं की पूर्ति कर शाँन्त होने की आशा छोड़ देना चाहिये बल्कि इच्छा का त्याग ही शांत होना है । इसलिए संत-शास्त्र इच्छाओं के त्याग का महात्म्य कहते हैं इच्छावान् ही राजा होते हुए दरिद्र है तथा इच्छा रहित भिक्षुक ही राजा है ।

सतु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला ।
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्र ॥

- श्री भर्तृहरिजी महाराज

वासना असत्य है । आत्मा सत्य है । असत्य वस्तु सत्य आत्मा को कभी भी अपने आधीन कर जन्म-मरण नहीं दिला सकती । शास्त्र में रोचक, भयानक, यथार्थ इस प्रकार तीन तरह के वचन संतों के होते हैं । जीव को बिना भोग के आत्मानन्द की उपलब्धि कराने हेतु ऐसे भयानक वाक्य रचे है कि वासना वाला जन्म-मरण से मुक्त नहीं होता, किन्तु उनका वास्तविक प्रयोजन वासना के त्याग द्वारा आत्म शांति लाभ करने में था न कि वासना के त्याग से आत्मा को मुक्ति व वासना युक्त होने से आत्मा को बन्धन सिद्ध करने में था । इसलिए समस्त संशयों को त्याग कर यही निश्चय करना चाहिये कि जीवात्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्विकार, जन्म-मरण से रहित, इच्छा से रहित अपने आप में स्थित है । चेतन की स्फूरण शक्ति के आधार से शरीर जल में तरंग की तरह उत्पन्न होते हैं और लय होते रहते हैं ।

प्रश्न-३७ : मन का क्या स्वरूप है ? मृत्यु के बाद मन नूतन शरीर में प्रवेश करता है, यह सत्य है या मिथ्या है ?

उत्तर : मन स्वयं कोई वस्तु नहीं है, स्थूल शरीर का सूक्ष्म भाग मन बनता है । खाये-पीये, अन्न-जल से मन बनता है, इसलिए कहावत प्रसिद्ध है ''जैसा खाओगे अन्न वैसा बनेगा मन'' छान्दोग्य उपनिषद में भी उद्दालक के पुत्र अरुण ने श्वेतकेतु को बतलाया है कि हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमय है । (७/६ छान्दोग्य) अतः शरीर के संयोग से ग्रहण किये अन्न का परिणाम मन शरीर पात के उपरान्त नहीं रह सकता । फिर अन्न के अभाव में अरुण की १६ कलाओं में से केवल एक ही कला जल के आधार से रह सकी थी, किन्तु जीवित रहने पर भी गुरु द्वारा वेद मंत्रों का उच्चारण करने को कहने पर भी वह वेद का स्मरण नहीं कर सका था । जब भोजन किया तब मन बलिष्ट हाने पर जो पूछा गया वह तुरन्त स्मरण में आ गया । सुषुप्ति में भी मन का लय प्रायः प्रतिदिन देखा जाता है । मुर्छा, समाधि तथा जड़ औषधि के संयोग से भी मन अमन हो जाता है । तब शरीर उपरान्त जीवित रहने का कोई आधार ही नहीं रहता है । यह केवल स्फूरण मात्र है जल में तरंग की तरह और शरीर के आश्रय ही कभी सक्रिय और कभी निष्क्रिय होकर रहता है । जब शरीर रहते ही यह लय हो जाता है तब शरीर नष्ट हो जाने पर तो इसका रहने का कोई आधार ही शेष नहीं रहता जो यह बच कर रह सके व नूतन शरीर को जन्म दे सके । जब सुषुप्ति में ही प्राण होते हुए मन अमन गति को प्राप्त हो जाता है तब मृत्यु में प्राण के अभाव हो जाने पर मन के अभाव रूप होने में सन्देह ही क्या रहेगा ? अतः शरीर के साथ मन भी शांत हो जाता है । शरीर सदा आत्म सागर में तरंगों की तरह उत्पन्न और नष्ट स्वभाव से होते रहते हैं और यह प्रवाह अनादि है, इसका मतलब यही नहीं है कि एक ही शरीर बारम्बार कर्म के फल भोगने हेतु आता रहता है । आत्मा पूर्ण है उसमें जन्म-मरण का पूर्णतया अभाव है । केवल भूतों के पंचीकरण से शरीरों की उत्पत्ति तथा लय प्रतीत होता रहता है । जैसे

वायु के वेग से जल में लहरों का उत्पन्न और लय होना प्रतीत होता रहता है । अथवा जैसे एक वृक्ष में प्रति वर्ष पतझड़ के मौसम में समस्त पत्ते झड़ जाते हैं और उनके स्थान नये पत्ते ग्रहण कर लेते हैं । यदि कहो कि जो पत्ते टुटे हैं उन्होंने ही नूतन जन्म धारण किया है तो यह समझना भूल है । देहातों में जहाँ लकड़ी नहीं मिलती वहाँ के लोग उन पत्तों को अपने यहाँ जमा कर रख लेते हैं और वर्ष भर जलाते रहते हैं । यदि कोई अपने घर के वृक्ष के पते न भी जलावे तो भी उसके आंगन का वृक्ष प्रति वर्ष अपने समय पर नये-नये पत्ते देता है । इसी प्रकार आत्म वृक्ष से शरीर रूप पत्ते निकलते है । जैसे वृक्षों के पत्तों का उत्पत्ति-नाश क्रम वृक्ष की आयुष तक चलता ही रहता है, उसी प्रकार आत्मा रूप वृक्ष की अनन्त आयु तक शरीर रूप पत्ते भी असंख्य-असंख्य उत्पन्न होते ही रहेंगे । अतः भूतों का विलास ही शरीर संज्ञा को प्राप्त हुआ है, भूतों से भिन्न शरीर कुछ नहीं है । जैसे कपड़ों से भिन्न गठरी कुछ नहीं है, कपड़ों के समुह को गठरी कहने की तरह भूतों के समुह को शरीर कहते हैं । भूत अपने स्वभाव को त्याग कर अन्यथा रूप ग्रहण नहीं कर सकते । अतः शरीर की उत्पत्ति-लय भ्रांति मात्र है। जैसे तरंग जल को छोड़ अन्यथा रूप ग्रहण नहीं कर सकती तब तरंगों का उत्पन्न व नाश कहना भी भ्रम है ।

यदि कहें कि कर्म से शरीर की उत्पत्ति होती है तो बिना शरीर के कर्म भी सिद्ध नहीं होते हैं और वह कर्म भी पंचीकरण पंच महाभूतों का धर्म अग्नि की उष्णता या मिर्च की तीक्ष्णता की तरह सदा उनमें रहते हैं । इसलिए कर्म कोई भिन्न वस्तु नहीं जो उसमें शरीर को उत्पन्न करने का सामर्थ्य हो । अतः यह सिद्ध है कि मन में शरीर उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है और न कर्म में । केवल भूतों का विलास प्रवाह रूप से भूतों में ही स्थित है । तीनों शरीर ही पंच भूत स्वरूप है भूतों के सात्त्विक अंश से मन बनता है जब शरीर नष्ट होता है तो कार्य रूप शरीर अपने कारण रूप भूतों में लय हो जाता है । इस प्रकार पंच भूत ही अपनी महिमा में स्थित है न कोई शरीर है, न कोई

कर्म है और न कोई मन है । भूतों की स्थूलता से शरीर है व भूतों की सूक्ष्मता से मन है इसके अलावा न शरीर है और न मन ही है ।

प्रश्न-३८ : क्या जगत् की उत्पत्ति परमात्मा से हुई है ?

उत्तर : शास्त्रों में जगत् की उत्पत्ति को परमात्मा की इच्छा या संकल्प से माना है । जैसे की ब्याज के सवालों में उत्तर निकालने हेतु ''माना कि धन १००रुपये है'' ऐसा कल्पित मान लिया जाता है, उसी प्रकार जगत् को परमात्मा से उत्पन्न मानना कथन मात्र है याने उत्पन्न हुआ ही नहीं । क्योंकि उत्पन्न हुई वस्तु के लिये प्रथक देश, काल, सामग्री चाहिये और शास्त्रों में केवल एक अखण्ड ब्रह्म के अलावा कुछ माना नहीं है । तब बिना देश, काल व सामग्री के जो वस्तु प्रतीत होती है, वह स्वप्न नगरी की तरह मिथ्या होती है । यदि इच्छा से जगत् उत्पन्न माने तो इच्छा और इच्छा करने वाले के भीतर ही रहती है, उससे भिन्न नहीं । अतः उसीका स्वरूप है । जैसे शक्ति शक्तिवान से भिन्न नहीं किन्तु उसके अन्दर ही रहती है, अतः उसीका स्वरूप माना जाता है । इसी प्रकार जगत् ब्रह्म की इच्छा होने से ब्रह्म का ही स्वरूप है अन्यथा रूप नहीं है । जब जगत् परमात्मा की इच्छा है तो जगत् सदा परमात्मा के अन्दर है और परमात्मा में परमात्मा के अलावा दूसरी वस्तु का अभाव है जैसा कि कृष्ण अर्जुन से कहते है-

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।

- गीता ७/७

अतः परमात्मा केवल अपने आप में स्थित है । इसलिए सिद्ध हुआ कि जगत् तीनों कालों में है नहीं, कि हुआ ही नहीं । परमात्मा ही केवल अपनी चेतनता, सत्ता, स्फूरणता में विद्यमान है । इच्छा, संकल्प या मन भी परमात्मा की चेतनता होने से परमात्मा स्वरूप ही है, दूसरी वस्तु नहीं । जब दूसरी वस्तु ही नहीं तो जगत्, शरीर अथवा मन की उत्पत्ति किस प्रकार मानी जावे ? केवल अद्वैत वस्तु अपने आप में स्थित है ।

उत्पत्ति भी तभी मानी जावे जब एक पदार्थ उससे भिन्न होकर दूसरी जगह रहे जैसे मिट्टि से उत्पन्न घट इधर-उधर ले जाया व रखा जाता है । किन्तु जगत् के सब पदार्थ परमात्मा में स्थित है, कभी भी परमात्मा को त्याग कर दूसरे देश में नहीं रहते और परमात्मा सब ओर, सब समय, सब में पूर्ण है, उससे जगत् किंचित् मात्र भी भिन्न व बाहर नहीं है । जब परमात्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है तो किसकी उत्पत्ति मानी जावे ? यदि आपके खजाने से निकाल कर १०० रुपये जेब में रख ले तो क्या वह १०० रुपये की उत्पत्ति मानी जावेगी ? हाँ यदि त्याग कर देंगे तो अवश्य हानि मानी जावेगी किन्तु ब्रह्म सत्ता ही सब ओर जब विद्यमान है तो उससे बाहर स्थान ही कहाँ जहाँ ग्रहण त्याग या उत्पत्ति नाश माना जावे ? इसलिए न कुछ उत्पन्न हुआ था, न होता है और न होगा केवल चेतन तत्त्व अपने आप में स्थित है । शास्त्रों में भी जगत् उत्पत्ति क्रम में विरोध है क्योंकि जगत् यदि सत्य रूप से उत्पन्न होता तो सब एक मत होकर, एक रूप से ही वर्णन करते किन्तु जगत् उत्पत्ति सम्बन्ध में शास्त्रों में मतान्तर यह सिद्ध करता है कि जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ ।

प्रश्न-३९ : संकल्प क्या वस्तु है ? उसका नाश कैसे होता है ?

उत्तर : जैसे तरंग और जल एक रूप है, कहने में दो नाम है उसी प्रकार संकल्प और आत्मा कहने में दो है, परन्तु वास्तव में एक रूप है, क्योंकि आत्मा चेतन है । चेतन का अर्थ सत्ता स्फूरण तथा स्फूरण और संकल्प पर्याय शब्द है अर्थात् एक अर्थ वाले शब्द है । इसलिए स्फूरण अथवा संकल्प आत्मा का स्वरूप है । आत्मा उत्पत्ति और नाश से रहित है, इसलिए संकल्प या मन भी उत्पत्ति और नाश से रहित है । चेतन सत्ता अपने आप में स्थित है ।

प्रश्न-४० : जगत् परमात्मा में स्वप्न की तरह किस प्रकार है ?

उत्तर : जैसे स्वप्नावस्था में प्रतीत होने वाले सब पदार्थ स्वप्न द्रष्टा का

स्वरूप है, स्वप्न द्रष्टा के अतिरिक्त वहाँ कुछ भी नहीं है । स्वप्न द्रष्टा ही स्वप्नावस्था में दर्शन, दृश्य और द्रष्टा रूप त्रिपुटी को प्राप्त हुआ है । स्वप्न नगरी के समस्त जड़-चेतन पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और लयता के रूप में स्वप्न द्रष्टा का ही अपना विलास चल रहा है उससे भिन्न स्वप्न कुछ नहीं है । इसलिए स्वप्न केवल स्वप्न द्रष्टा का ही विलास मात्र है । विलास कभी भी विलासी पुरुष से भिन्न होकर स्थित नहीं रहता बल्कि सदा अभिन्न ही रहता है । वास्तव में देखा जावे तो स्वप्न दो अक्षरों के मेल से बना है ''स्व+पन''=स्वप्न । ''स्व'' का अर्थ अपनी और ''पन'' का अर्थ अवस्था । अर्थात् अपनी अवस्था याने जिसे लोग स्वप्न कहते हैं, वह चेतन की अपनी अवस्था है, विलास है । जो लोग जगत् को परमात्मा में स्वप्न की तरह जानते हैं उनका यही तात्पर्य है कि जगत् दूसरी वस्तु नहीं है किन्तु चेतन का स्वप्न, अपनापन अथवा निज स्वरूप ही है । जब किसी प्रकार से मन, शरीर व जगत् परमात्मा से भिन्न सिद्ध नहीं होते तो उनकी उत्पत्ति और नाश कैसे माने ? यदि मानते हैं तो परमात्मा का ही उत्पन्न होना व नाश होना मानना पड़ेगा । परन्तु परमात्मा सत्य एवं अद्वय है, उसे कौन मारेगा व पैदा करेगा ? सत्य का कभी अभाव नहीं होता और असत्य वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है । जो प्रतीति होती है वह मात्र मिथ्या है । वस्तु अद्वैत है और उसकी सज्ञाएँ अनेक हैं । लोग शब्द जाल में पड़कर चकरा जाते हैं कि यह कोई भिन्न वस्तु या अवस्था का नाम है । कोई उसे परमात्मा कहते हैं, कोई मन कहते हैं, कोई जगत् कहते हैं वास्तव में अद्वैत चेतन तत्त्व ही है, न कुछ था, न कुछ है और न कुछ होगा ।

प्रश्न-४१ : यमदूत कभी भूलकर दूसरे मनुष्य को कैसे ले जाते है ? लोटने पर वह व्यक्ति विभिन्न लोकों की बात कहता है क्या वह कथन व लोक सत्य है ?

उत्तर : मृत्यु के उपरान्त कोई जीता नहीं है । देह में ऐसे रोग रहते हैं जिनके कारण रोगी तीन दिन तक शरीर के होश में न आकर मुर्छित् पड़ा

रहता है । ऐसे मुर्छित व्यक्ति की देह अवस्था मृतक के समान हो जाती है । प्राण स्वाभाविक ही ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थान कर जाते हैं याने लीन हो जाते हैं और अंग भी मृतकवत् कठोर हो जाते हैं । प्राण भीतर ही भीतर अन्तःकरण को चेतना, स्फूरणा देता रहता है उसके आधार से मुर्छित व्यक्ति अपने जीवन काल में सुने गये पौराणिक लोक तथा गरुड़ पुराण के नरक यातना के दृश्यों के संस्कार स्वप्न की तरह उसके हृदय में फुर आते हैं जिन्हें वह परलोक निश्चय करता है और दूसरे उसके सम्बन्धी भी अज्ञानी है उनको भी उसकी बात सुनकर निश्चय हो जाता है कि यह पुरुष परलोक से आया है । इस प्रकार की घटना को बुद्धिमान शरीर की एक अवस्था 'मुर्छा' की तरह जानकर विस्मरण कर देते हैं । इसलिए सब वैदिक, लौकिक और पौराणिक वचनों को जो जन्म-मरण, लोक-परलोक, गमन-आगमन के सम्बन्ध में है, उन्हें कल्पित ही माने ।

प्रश्न-४२ : ''अन्त मति सो गति'' कथन सत्य है या मिथ्या ?

उत्तर : वास्तविक दृष्टि से देखें तो पंचभूत ही अपनी महिमा में स्थित है न कोई शरीर है और न कोई मन है सब शरीरों में पच्चीस प्रकृति, दस इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण समान है और सब में समान रूप से अपना-अपना कार्य करते रहते हैं । समस्त शरीर पंच भूत का कार्य है, इसलिए सब समान होने से कोई ऊँच नहीं न कोई नीच है ।

यदि मन की वासना के अनुसार शरीर की उत्पत्ति द्वारा ऊँच-नीच गति माने तो प्रथम यह विचार करना चाहिये कि मन भौतिक पदार्थों की वासना करता है अथवा भौतिक पदार्थों को त्याग कर और किसी की वासना करता है । यदि भौतिक पदार्थों की वासना करता है तो वह पदार्थ मन की आत्मा याने मन का स्वरूप भूत ही है और मन भी भौतिक पदार्थ है, इसलिए सदा भौतिक पदार्थ का चिन्तन कर रहा है बल्कि अपने आपका ही चिन्तन आप ही कर रहा है । अपने से भिन्न याने भूत चिन्तन छोड़ मन अन्य

का चिन्तन कभी नहीं करता यदि कहे मन जगत् में भटकता है तो यह जगत् और मन क्या दो वस्तु है ? जगत् और मन दो नहीं एक ही भौतिक पदार्थ है । जगत् स्थूल भूत है इसलिए चंचलता रूप वासना प्रतीत नहीं होती, मन सूक्ष्म भूत है इसलिए चंचलता रूप वासना प्रतीत होती है । वासना मन से भिन्न नहीं, मन का ही स्वरूप है । इसी प्रकार मन जगत् से भिन्न नहीं जगत् का ही स्वरूप है । जगत् भूतों से भिन्न नहीं भूतों का स्वरूप है । इसलिए मन, जगत् और भूत एक वस्तु है । जब मन ही नहीं तो उसकी वासना और वासना का फल जन्म-मृत्यु कैसे सिद्ध होगा ? इस प्रकार मन की वासना से शरीरों की उत्पत्ति और लयता नहीं होती । पांच तत्त्वों के पंचीकरण से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं । पांचों तत्त्व अनादि है एवं चेतन का स्वभाव है, इसलिए चेतन स्वरूप अपने आप में स्थित है । न कोई ऊँच गति है न नीच गति है ।

प्रश्न-४३ : ज्ञानवान की दृष्टि में संसारी सम्बन्धी किस प्रकार रहते हैं ।

उत्तर : ज्ञानवान की दृष्टि में संसारी सम्बन्धी केवल कल्पना या स्वप्न पुरुष मात्र प्रतीत होते हैं । सृष्टि दो प्रकार की है । एक सृष्टि ईश्वर कृत तथा दूसरी मनोमय सृष्टि या जीव सृष्टि । ईश्वर सृष्टि एक है, जीव सृष्टि नाना है । ईश्वर सृष्टि स्वतःसिद्ध है, जीव सृष्टि कल्पना मात्र है । एक पुरुष का शरीर ईश्वर रचित होने से ईश्वर सृष्टि है, उसमें अनेक प्रकार के सम्बन्धों की कल्पना मन से होती है वह मनोमय सृष्टि है, जैसे कोई उसी ईश्वर रचित शरीर को बेटा मानता है, कोई बाप मानता है, कोई पति मानता है, कोई भाई मानता है, कोई मित्र मानता है, कोई शत्रु मानता है, कोई श्वसुर, कोई मामा, कोई भान्जा, कोई साला, कोई बहनोई आदि मानते हैं । इसमें ईश्वर रचित एक शरीर है और यथार्थ है और उसी एक शरीर में मन रचित अनेक कल्पनाएँ है । इसलिए ज्ञानी जन ईश्वर रचित शरीर पर निश्चय करके मन रचित कल्पित अनेक सम्बन्ध पर ध्यान नहीं देते । जब सारे सम्बन्ध ही कल्पित प्रतीत हुए

तो ज्ञानी किसको बाप माने, किसको बेटा माने, किसको श्वसुर माने और किसको साला माने ? केवल शरीर यथार्थ देखता है । जब शरीर को यथार्थ देखता है तो पांच भूतों के अलावा शरीर कुछ प्रतीत नहीं होता और जब पांच तत्त्व पर विचार करता है तो वे परमात्मा के पांच स्वभाव प्रतीत होते हैं । अर्थात् परमात्मा का पूर्ण स्वभाव आकाश है, परमात्मा का चेतन स्वभाव वायू है, परमात्मा का तेज स्वभाव अग्नि(सूर्य) है, परमात्मा का सर्वात्मा स्वभाव जल है और परमात्मा का आधार स्वभाव पृथ्वी है । इसलिए पांच तत्त्व कोई वस्तु नहीं एक परमात्मा ही अपनी महिमा में स्थित है । इसी प्रकार स्त्री शरीर को जानता है ।

प्रश्न-४४ : गृहस्थ में रहने वाला ज्ञानी देहाभिमान से किस प्रकार दूर रहता है ?

उत्तर : देह अभिमान दो प्रकार का है, एक दृढ़ तथा दूसरा अदृढ़ अथवा एक सूक्ष्म तथा दूसरा स्थूल । यद्यपि ज्ञान से सूक्ष्म(दृढ़) अहंकार निवृत्त हो जाता है तथापि स्थूल(अदृढ़) अहंकार शरीर पर्यन्त रहता तो है परन्तु वह बन्धन रूप नहीं होता है । क्योंकि व्यवहार की सिद्धि अहंकार के बिना नहीं हो सकती । जब तक शरीर रहता है व्यवहार भी रहता है तब तक अहंकार भी रहता है । जब शरीर नष्ट हो जाता है तब व्यवहार और अहंकार दोनों लीन हो जाते हैं । इसलिए स्थूल अथवा अदृढ़ अहंकार ज्ञान के बाद भी बना रहता है । स्थूल अहंकार या अदृढ़ अहंकार से ज्ञानवान् की स्वरूप निष्ठा में कोई हानि नहीं होती । ज्ञानी अपने आपको व्यवहार काल में भी इन्द्रिय तथा अहंकार का प्रकाशक जानता है । इसलिए देह द्वारा समस्त कर्म होने पर भी अपने को असंग और शुद्ध ही जानता है । ज्ञानवान अपने को अगाध समुद्रवत तथा देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण के धर्म को तरंगवत् जान सदा प्रसन्न, तृप्त, मुक्त और निर्विकल्प रहता है ।

बाहर से ''मैं मेरी'' करने से ज्ञानी की कोई हानि नहीं बस अन्तर

से व्यष्टि देह के साथ मिलकर ''मैं मेरी'' में सत्य बुद्धि न हो, क्योंकि ''मैं मेरी'' का त्याग केवल राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए है । इसलिए जिज्ञासु अपना स्वयं साक्षी होकर देखे कि मेरे हृदय में परिच्छिन्न अहंकार की दृढ प्रतीति है अथवा मिथ्या । यदि अहंकार की दृढ़ प्रतीति है तो बारम्बार अपने अद्वय स्वरूप का चिन्तन कर उसे निवृत्त करे और यदि मिथ्या अहंकार है तो निर्विकल्प होकर देह के व्यवहार को सिद्ध करता रहे, परन्तु राग-द्वेष का भागी किसी व्यवहार में न बने ।

प्रश्न-४५ : ज्ञानी संत किसी को आशीर्वाद क्यों नहीं देते ?

उत्तर : सत् चित् आनन्द स्वरूप में कल्याण और कुशल पूछना या आशीर्वाद देना सिद्ध नहीं होता । जो सत्य है वह कदाचित् असत्यभाव को प्राप्त नहीं होता और असत्य जड़-दुःख रूप शरीर की अवस्था का कल्याण पूछना या आशीर्वाद देना भी उचित नहीं, क्योंकि जो असत्य-परिणामी और क्षण भंगुर है वह कदाचित् सत्य नहीं होता । इसलिए दोनों प्रकार से कल्याण का पूछना व आशीर्वाद देना सिद्ध नहीं होता । आत्म स्वरूप सदा शिव सत्‌चित् आनन्द है, उसमें कल्याण की प्रार्थना अज्ञान से है । इसलिए ज्ञानी सदा सबको सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा निश्चय करके सर्व कल्पना से मुक्त रहता है ।

प्रश्न-४६ : ब्रह्मज्ञानी दूसरे के मन की बात जानता है या नहीं ?

उत्तर : ब्रह्मज्ञानी कहते ही उसी को है जिसकी दृष्टि में दूसरा कोई नहीं हो । जब दूसरा ही नहीं तो कौन किसके मन की बात जाने ? ज्ञानी अपने से भिन्न दूसरे का अत्यन्त अभाव रूप निश्चय करता है । दूसरे को मानना अथवा दूसरे के मन की बात जानना भेददर्शी अज्ञानी जन का कार्य है । अभेदवादी अद्वैत दर्शी होता है, इसलिए वह सिद्धि चमत्कारों को सिद्ध करने व फिर उन्हें भीड़ जमाकर सिद्धि चमत्कार दिखलाने को अद्वैत निष्ठा में

कलंक रूप जानता है । इसलिये कभी उस ओर चेष्टा नहीं करता है । केवल अपने आप में स्थित रहता है ।

प्रश्न-४७ : ज्ञानी का पुनर्जन्म नहीं होता किन्तु अज्ञानी का पुनर्जन्म होता है या नही ?

उत्तर : वास्तव में जन्म किसी का भी नहीं होता केवल परमार्थ सत्ता अपने आप में स्थित है । ज्ञानी इस बात को सम्यक् ज्ञान के बल से दृढ़ अपरोक्ष निश्चय करता है । इसलिए कल्पित और आरोपित द्वन्द्वों से मुक्त होकर निर्विकल्प रूप से शरीर काल व्यतीत करता है, किन्तु अज्ञानी भिन्न-भिन्न संस्कारों, इच्छाओं को सत्य प्रतीत कर अपने संशय से आप ही शोक-ग्रस्त रहता है । अज्ञानी अपने स्वरूप के अज्ञान से अपने को जन्म-मरण वाला निश्चय करता है । वास्तव में अज्ञानी का भी जन्म नहीं, क्योंकि स्वरूप समान और अद्वैत है, ज्ञान और अज्ञान से अपने आत्म स्वरूप में न्युनता अथवा वृद्धि नहीं होती । जैसे हमारी दृष्टिसे सूर्य के उदय तथा अस्त के परिणाम स्वरूप दिन रात्रि का प्रभाव आकाश में नहीं पड़ता आकाश ज्यों का त्यों व्यापक शून्य ही बना रहता है । वैसे ही ज्ञानी अज्ञानी में चिदाकाश समान और अद्वैत रूप है । किसी का अन्तःकरण ज्ञान से प्रकाशित होता है तो किसी का अज्ञान तम से आवृत रहता है पर दोनों अवस्था में आत्मा, ज्यों का ज्यों साक्षी ही बना रहता है । जब ज्ञान अज्ञान का ही अपने स्वरूप में प्रवेश नहीं तो इनका फल बन्ध-मोक्ष तो आत्मा में प्रवेश कर ही नहीं सकते है ? इसलिए न अज्ञानी का जन्म है और न ज्ञानी का ।

वास्तव में न कोई ज्ञानी है और न कोई अज्ञानी, केवल गुणों की अधिकता और न्युनता ज्ञान व अज्ञान रूप होकर शरीरों के यश अपयश का कारण हो रही है । सतोगुण की अधिकता से ज्ञानी होता है तो तमोगुण की अधिकता से अज्ञानी कहलाता है । अद्वैत सत्ता अपने आप में स्थित है ।

प्रश्न-४८ : ज्ञानी की मुक्ति तथा अज्ञानी को बन्धन क्यों कहा ?

उत्तर : ज्ञानी की मुक्ति तथा अज्ञानी का बन्धन भी यथार्थ कथन नहीं है शास्त्रकारों ने रोचक तथा भयानक वाक्य बना दिये हैं जिससे जीवन शान्तिमय व्यतीत हो । ज्ञानी की मुक्ति तथा अज्ञानी का बन्धन तब माना जावे जब जीव नाना हो और जीव-ईश्वर का भेद भी वास्तविक रूप में हो । यदि जीव और ईश्वर का भेद कल्पित माने तथा जीव भी एक ही माने तो ज्ञानी, अज्ञानी, बन्ध और मुक्त का भेद भी कल्पित प्रतीत होता है वास्तव में नहीं । एकता उसी वस्तु की होती है जो पहले से एक रूप होती है । यदि पहले जीव को ईश्वर से भिन्न माने और ज्ञान अथवा योग द्वारा जीव को ईश्वर के साथ एकता माने तो वह एकता यथार्थ नहीं होगी; क्योंकि ज्ञान अथवा योग का बल घटने पर पुनः एकता नष्ट हो जावेगी, इसलिए वेदान्त का मत व आत्म ज्ञान का प्रयोजन खण्डित और निष्फल हो जावेगा । अतः सिद्ध होता है कि वास्तव में जीव और ईश्वर की एकता नहीं करनी है किन्तु एकता के ज्ञान को प्राप्त करना है । वास्तव में जीव ही ईश्वर रूप है और ईश्वर ही जीव रूप है, यह ''तत्त्वमसि'' महावाक्य से प्रमाणित है । यदि ज्ञान से अभेद माने और अज्ञान से भेद माने और फिर ज्ञानी की मुक्ति और अज्ञानी को बन्ध माने तो अद्वैतवाद हास्यास्पद ही होगा । यदि जीव-ईश्वर का तथा जीवों का परस्पर भेद यथार्थ माने तभी ज्ञान और अज्ञान का फल बन्ध-मोक्ष हो सकता है । यदि अद्वैतवाद को माने तो, किसीको न बन्ध है न किसीका जन्म ।

प्रश्न-४९ : यदि वास्तविक दृष्टि से जन्म-मरण, स्वर्ग नरक, शुभ-अशुभ और दृष्ट-अदृष्ट पदार्थ कोई नहीं तो फिर सत्संग, शास्त्रादि से क्या लाभ ?

उत्तर : देह के पूर्व तथा देह के अन्त में तो इसका अपने स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं है; किन्तु मध्यकाल अर्थात् देह अवस्था काल के लिए सत्संग आदि साधन बहुत ही आवश्यक है । जैसे देह रक्षा हेतु भोजन आवश्यक है वैसे ही मानसिक शान्ति हेतु सत्संग सत्शास्त्र अभ्यास भी जरूरी है । प्रत्येक व्यक्ति जीवन काल को सुखमय व्यतीत करना चाहता है

और उस हेतु सुन्दर स्त्री, पति, बच्चे, मकान, व्यापार तथा धन संग्रहादि करता है । वैसे ही बुद्धिमान सत्संग, सत्शास्त्र, चिन्तन और ध्यान समाधि आदि अभ्यास केवल मध्य भावी अवस्था को सुख शांति सहित व्यतीत करने के लिए ही करते हैं । उत्तम स्वभावानुसार जीवन व्यतीत करने से सुख और शांति मिलती है । यथार्थ ज्ञान से संशय और भय की निवृत्ति होती है जिससे चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है, एकाग्रता से परम कल्याण रूप अवस्था प्राप्त होती है । अन्यथा पुरुष संशय और विपर्यय रूप घोर वन में भटकता रहता है और नाना प्रकार के कठिन और दुःसाध्य वैदिक, पौराणिक और लौकिक साधनों को साधकर भी अखंड शांति प्राप्त नहीं कर पाता । जब पूर्ण पुरुष के यथार्थ वचनों को निश्चय करता है कि अद्वैत वस्तु स्वयं स्थित है तब संशय से मुक्त होकर आनन्दमय जीवन व्यतीत करता है । इसलिए मरणपर्यन्त सत्संग का लाभ लेना चाहिये । ज्ञानी यह जानता है कि जन्म-मरण, नरक-स्वर्ग, बंध-मोक्ष, शुभ-अशुभ, कल्पना मात्र है केवल सत्ता सामान्य स्वयं स्थित है । यह बोध बिना सद्गुरु एवं सत्संग किये नहीं आता ।

प्रश्न-५० : ज्ञानी और अज्ञानी की गति समान ही है तो ज्ञानी को ज्ञान से क्या लाभ हुआ ?

उत्तर : ज्ञानी को ज्ञान से अनन्त लाभ होता है और अज्ञानी को अज्ञान से अनन्त दुःख भोग होता है । ज्ञानी अपने देह सम्बन्धी काल को विवेक, वैराग्य, शम, सन्तोष, शान्ति, समता, मित्रता, प्रेम, दया, क्षमा सहित व्यतीत करता है और सर्व प्रकार से सुखी और आनन्द रूप रहता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, वासना आदि के महान क्लेशों से बचा रहता है । ज्ञानी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पंच विषयों के आधीन होकर संसार में भोगों के हेतु दीन नहीं होता है केवल जीवन निर्वाह का साधन जुटाकर अपने स्वरूपानन्द में ही तृप्त सन्तुष्ट रहता है । किसी भौतिक पदार्थ के साथ ममता कर चित्त को नहीं फंसाता है । ऊपर-ऊपर से व्यवहार करता है,

अन्दर से निर्लेप, असंग, कमल पुष्पवत् बना रहता है । तात्पर्य यह कि शरीर धारण के पूर्व जो निर्विकार, अनामी, अरूपी, निष्क्रिय, शुद्ध, मुक्त अवस्था थी अथवा शरीर त्याग करने के पश्चात् जो अवस्था रहेगी वही अवस्था में शरीर को धारण कर स्थित रहता है । जो आनन्द शरीर के प्रथम में था तथा जो आनन्द शरीर के अन्त में होगा उसी आनन्द का शरीर होते हुए अनुभव करता है । यह ज्ञान की विशेषता ज्ञानी को ही प्राप्त होती है । अज्ञानी शरीर को अपना रूप निश्चय कर विषयभोग में सुख मानकर उनकी पूर्ति के साधन करने में महान कष्ट पाता रहता है । वह विषय वस्तु के अभाव में अपने आपको महान दुःखी मानता रहता है और कभी भी शान्ति, समता, सन्तोष का अनुभव नहीं करता है वरन् सदा चिन्ता अग्नि में जीवित ही जला करता है ।

प्रश्न-५१ : ज्ञानवान् किस युक्ति से सर्वात्म दर्शन पाता है ?

उत्तर : ज्ञानवान् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को आत्मरूपी समुद्र की तरंगें जानता है । इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय को अन्तःकरण रूप समुद्र की तरंग देखता है । पांच विषय रूप भौतिक पदार्थ को इन्द्रिय रूप समुद्र की तरंग मानता है । इसलिए अन्तःकरण से लेकर समस्त बाहरी नाम, रूप पदार्थ पर्यन्त सब ही को आत्मारूपी सागर की तरंग जानता है । जब ऐसी अवस्था है तो आत्मा के अलावा कुछ नहीं है । जो कुछ दृष्टि में आवे, जो कुछ शब्द सुनाई दे, जहाँ-जहाँ मन का फुरना जावे, सब ही आत्मा है । जो सत्ता शब्द से रहित, चिह्न मात्र स्वयं स्थित है वही अपनी चित्त शक्ति के संयोग से आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी रूप अपनी पांच शक्ति सम्पन्न जगत् के नाम से प्रसिद्ध है, दूसरा न था, न है, न होगा । तात्पर्य यह है कि जब इस प्रकार सर्वात्म दर्शन हो तब आकाश से लेकर पृथ्वी तक और इन पंच भूतों से रचित इस सृष्टि के समस्त पदार्थ एक ही वस्तु रूप प्रतीत होते हैं । अर्थात् आकाश शीश है, पाताल चरण है, पृथ्वी कमर है, अन्तरिक्ष उदरलोक है, दशों-दिशाएँ भुजा है, सूर्य, चन्द्र नेत्र है, पवन प्राण

है, समुद्र वस्ती स्थान है, पहाड़ हड्डियाँ है, नदियाँ नाडियां है, सकल वनस्पत्ति रोम है । तारागण तिल है, अग्नि मुख है, चार प्रकार के जीव उदर के जन्तु है । ऐसे स्वरूप का ध्यान जब चित्त में स्थित होता है तब जिस ओर दृष्टि जाती है आत्मा के अलावा कुछ भी नजर नहीं आता है अर्थात् मैं ही सर्वरूप प्रतीत होता है । तब ज्ञानी उस अवस्था में आनन्द मग्न होकर कहता है मेरी वृत्ति ऐसी मतवारी हो गई कि जिस और जाती है स्वरूप के बिना उसे अन्दर बाहर कुछ भी द्रष्टि नहीं आता ।

प्रश्न-५२ : योग मार्ग तथा ज्ञान मार्ग में क्या भेद है और कौन ग्रहण करने योग्य है ?

उत्तर : योग नाम प्राणायाम अथवा एकता का है और ज्ञान नाम सत्य वस्तु को ज्यों का त्यों जानने का है । योग साधन में द्वैत बना रहता है और ज्ञान में अभेद प्रतीत हो जाता है । योग शून्य अथवा जड़ अवस्था है और ज्ञान चेतन अवस्था है । योग हठ द्वारा कष्ट साध्य है एवं ज्ञान सहज सिद्ध है । हठ योगी सिद्धि और दूसरे संशय रूप पदार्थों एवं लोकों को मानते हैं । ज्ञानी सर्व संशयों और विकल्पों से रहित होकर सदा अपने आप में कष्ट से मुक्त हो मग्न रहते हैं । हठ योगी सदा प्रयन्तशील होने से क्लेशों से मुक्त नहीं हो पाते इसलिए हठ योगी भेदवादी होने से भ्रमित है और राजयोगी ज्ञानी अभेदवादी ब्रह्म रूप है । इस प्रकार शास्त्रों में दो मार्ग है एक का नाम विहंगम् मार्ग है जिसे राजयोग कहा जाता है तथा दूसरे का नाम चींटी मार्ग है जो हठ योग के नाम से कहा जाता है । विहंगम मार्ग का अर्थ समस्त बाधा से ऊपर उड़ते हुए पक्षी का आकाश मार्ग और चींटी मार्ग का अर्थ समस्त रुकावट तकलीफों से लड़ते-लड़ते चलने का मार्ग हठ योग है । जो पुरुष ज्ञान के सहारे सत्य वस्तु के साथ तद्रूप होता है वह विहंगम मार्ग याने राज मार्ग है जो निष्कंटक है एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर सहज पहुँचने वाले पक्षी की तरह देह भाव को छोड़ तुरन्त ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है । इसलिए ज्ञानी को शास्त्रों में गरुड़ पक्षी की उपमा दी गई है । दूसरा चींटी मार्ग, यह हठ योग है

इसमें प्राणों के निरोध द्वारा सत्य वस्तु के साथ तद्रूप होना होता है, किन्तु यह मार्ग अत्यन्त कठिन तथा बहुत लम्बे काल उपरान्त क्षणिक सिद्ध होने वाला है वह भी किसी किसी को जो बलवान, वीर्यवान, निरोगी, ब्रह्मचर्य, निष्फिक्र है । इसलिए यह मार्ग चींटी मार्ग है । इन दोनों में राज मार्ग, विहंगम मार्ग श्रेष्ठ है इसमें बिना किसी कष्ट के केवल वृत्ति को ज्ञान आरूढ़ करना होता है ।

प्रश्न-५३ :वेद, शास्त्र, संत तथा नाना मत होने पर भी सत्य क्या है यह आज तक राज क्यों नहीं खुल पाया, नेति कह कर क्यों रह गये ?

उत्तर : सत्य का राज खुल भी नहीं सकता । अनादि से जिसका राज खुलना आज तक किसी से सम्भव नहीं हो सका वह अब कैसे हो सकता है ? क्योंकि जिस वस्तु का भेद खुलता है वह वस्तु द्वैत और असत्य होती है और जिस वस्तु का भेद गुप्त रहता है वह वस्तु अद्वैत और सत्य होती है । फिर एक वस्तु जड़ होती है और एक वस्तु चेतन होती है । जड़ वस्तु चेतन को कभी जान नहीं सकती । सत चेतन वस्तु अद्वैत है, इसलिए उसे कोई जान नहीं सकता । इसलिए भेद का न खुलना, अद्वैत तथा सत्य वस्तु का प्रमाण याने लक्षण है । और वास्तविक बात भी यह है कि जहाँ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ऐसे लीन हो जावे कि अपनी स्फूरण रूप शक्ति के द्वारा कुछ भी न समझ सके और मूढ़ता को प्राप्त हो जावे । जैसे कि चक्षुवान व्यक्ति रात्रि के घोर अंधकार में देखता रहे तो भी कुछ नहीं जान सकता केवल कल्पना ही होने की करता रहता है । ऐसे ही मन, बुद्धि मिथ्या कल्पना कर थक जाते हैं तब जो सत्ता मन, बुद्धि के थकन व कुछ न जानने को अथवा मूढ़ता को प्राप्त होने को प्रकाश करती है, जानती है वही तुम साक्षी यथार्थ हो । अब तुमको कौन प्रकाश दे सकता है ? जो स्वयं प्रकाश है उसे कौन प्रकाश दे ? जो चेतन है उसे कौन जाने? खोजने वाला, जानने वाला अन्तःकरण तो अज्ञान में लीन हो गया सुषुप्ति की तरह और सत्ता अद्वैत रूप

है याने अन्तःकरण जड़ तो जान नहीं सकता और चेतन मात्र अकेला केवली रूप है। इसलिए ज्ञान अज्ञान से मुक्त, समझने और समझाने से रहित, देखने और दिखाने से परे, सोचने और निश्चय से मुक्त, शुद्ध, उपदेश के विषय से दूर, भेद व अभेद से पृथक्, वाणी और कर्ण से अगोचर अपने आप में आप स्थित हैं । न दूसरा था, न है और न होगा, इसलिए क्या कहें और क्या लिखें और क्या गाए ? जो है वह यथार्थ तू स्वयं है बस यह निश्चय अपने स्वरूप का कर मस्त रहो ।

प्रश्न-५४ : भिन्न-भिन्न कामनाओं का फल देने वाले देवता किस लोक में रह कर फल देते है ?

उत्तर : अनुभव कल्पवृक्ष है । जैसी इच्छा की जाए वेसा ही फल मिलता है । दूसरा देवता काई नहीं है । शास्त्रों में ''एकोदेवः इतिश्रुति'' एक ही देवता कहा है जो समस्त बुद्धि का साक्षी प्रकाशक है । अनुभव ही सब कामना को सिद्ध करने वाला देवता है, वह अनुभव सब की आत्मा है कोई दूसरा पदार्थ नहीं । जब अपने आप से ही कोई कामना करता है, तब अपने आप से ही उसकी प्राप्ति होती है । अज्ञानी दूसरे देवताओं की कल्पना कर उनको पूजते हैं और वास्तविक देव स्वरूप निजात्मा से अज्ञात ही बने रहते हैं, जिससे कि सर्व कार्य सिद्ध हुआ करते हैं । अनुभव ही सब में पूर्ण होकर समस्त शरीरों को सत्ता, स्फूर्ति, चेतना, प्रेरणा देकर देश, काल, वस्तु के अनुसार पूर्ण करते हैं । जितने भी देवी तथा देवता अविवेकी द्वारा कल्पित किये गये हैं वे सब आत्म समुद्र की तरंगें हैं । तात्पर्य यह है कि अनुभव के बिना किसी की भी सिद्धि नहीं होती,इसलिए अनुभव ही सब देवों का देव याने महादेव है । निजानुभव ही सर्व कर्म फल प्रदाता है और नित्य प्राप्त ऐसे अनुभव को अपना आत्म स्वरूप निश्चय करके सदा सन्तुष्ट रहना ही यथार्थ स्थिति है । कदाचित् अपने स्वरूप को त्यागकर अन्य देवी-देवताओं के मिथ्या स्वरूप को सत्य नहीं मानना चाहिये । जैसे हवा आंधियों के तेज झोंकों में भी पर्वत अचल ही स्थिर रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी कभी भी

भेदवाद को सुनकर अपने मन के निश्चय को नहीं बदलते न विचलित ही होते हैं । वे सदा पर्वत की तरह स्थिर रहते हैं । स्थूल-सूक्ष्म, निराकार-साकार, जड़-चेतन, चर-अचर, मनुष्य-पशु, जीव-ईश्वर आदि सब द्वन्द्व चिदाकाश रूप है । मात्र शब्दों का भेद है । शब्द आकाश का अंश होने से आकाश रूप है, इसलिए सब आकाश रूप है । आकाश अनुभव रूप है, इसलिए उसे चिदाकाश कहते हैं, चिदाकाश सब की आत्मा है । यही मनोरथ पूर्ण करता है ।

प्रश्न-५५ : जब गुण ही गुण में बरत रहे हैं या भूत ही भूत में बरत रहे हैं तब ज्ञानी अज्ञानी के कार्य का कोई भेद नहीं होगा ?

उत्तर : शरीर व शरीर की चेष्टा के फल में ज्ञानी अज्ञानी समान हैं, क्योंकि शरीर एक है, दृष्टि दोष से नाना प्रतीत होते हैं । वास्तव में एक ही ज्ञान, एक ही कर्म, एक ही स्वभाव व्यापक होकर समस्त शरीरों में प्रवृत हो रहा है । तात्पर्य यह है कि एक ही आकाश भूत के सतोगुण अंश का कार्य श्रोत्र है वह सर्व शरीरों में एक है और उनका स्वभाव जो शब्द का सुनना है वह भी तमोगुण अंश से सब में समान है और शब्द को कहना भी आकाश के रजोगुण अंश के कार्य वाक् से सब में समान रूप से वचन होता रहता है । इसी प्रकार पवन का कार्य त्वचा, सब शरीरों में एक है । उसका स्वभाव स्पर्श करना भी एक है, एक ही अग्नि का कार्य नेत्र और उसका स्वभाव रूप देखना भी सब शरीरों में समान है । एक ही जल का कार्य रसना सब शरीरों में अपने स्वभाव रस के साथ विद्यमान है और एक ही पृथ्वी अपने स्वभाव गन्ध को धारण कर सब शरीरों में समान रूप से विद्यमान है । इसी प्रकार दूसरी इन्द्रियाँ भी एक-एक भूत का कार्य होने से समान स्वभाव वाले सब शरीरों में विद्यमान है । शरीर भी पंच भूत रूप होने से एक है, अनेक नहीं यही यथार्थ ज्ञान है । जो इस अद्वय, अभेद ज्ञान को जानकार है अनेकता के भेद ज्ञान से मुक्त होकर सहज स्वभाव में स्थित रहता है । जो इस ज्ञान से अज्ञात है वह नानात्व और भेद को सत्य प्रतीत कर सदा दुःखी एवं चंचल

बना रहता है । इसलिए ज्ञानी और अज्ञानी में केवल ज्ञान और अज्ञान का ही भेद होता है शरीर की क्रियाएँ तो ज्यों की त्यों भूतों का स्वभाव होने से समान होती रहती है । ज्ञान तथा अज्ञान भूतों के ही आधार से है । बुद्धि जो ज्ञान-अज्ञान का आधार है वह भूतों के सतोगुण से उत्पन्न हुई है । जब यथार्थ प्रतिविम्ब पदार्थों का बुद्धि में पड़ता है तो ज्ञान कहलाता है और बुद्धि में विपरीत प्रतिविम्ब पड़ता है तो अज्ञान कहलाता है । इसलिए प्रतिविम्ब रूप ज्ञान और अज्ञान तथा दर्पण रूप बुद्धि एक रूप है । केवल निर्मलता और मल के कारण एक ही वस्तु दो रूप में प्रतीत होती है । यथार्थ दृष्टि से अद्वैत वस्तु अपने आप में स्थित है । तब किसे ज्ञानी और किसे अज्ञानी कहा जावे ? गुणों के कम ज्यादा होने से ज्ञानी अज्ञानी शब्द कल्पित हुए हैं । भूतों के अलावा ज्ञान अज्ञान कहाँ नहीं है, तब ज्ञानी अज्ञानी कहाँ रहेंगे ? केवल ज्ञान सत्ता अपने आप में स्थित है । इस दृष्टि को धारण करने वाला समस्त द्वन्द्वों से मुक्त होकर निर्द्वन्द्व,अभेद, अचल,अनाम,अखण्ड और निर्भय पद में स्थित रहता है । इसी अवस्था में बुद्धि का निश्चय रखना ही सम्यक् ज्ञान है । इसी को तत्त्व दृष्टि कहते हैं । यही सहज अवस्था दिलाने वाली है । इसलिए तत्त्वज्ञानी ज्ञान और अज्ञान कल्पित संज्ञा से मुक्त हो संशय और विपर्यय से रहित अपने को सबके समान व सबको अपने समान देखते हैं । न ज्ञान से किसी को विशेषता और न अज्ञान से किसी को न्युनता निश्चित करते हैं । वे ज्ञानी सब ओर अनुभव मात्र निश्चय करते हैं- आप और सब, यह और वह, मैं और तू से रहित ज्ञान मात्र सत्ता में स्थित रहते हैं ।

प्रश्न-५६ : जड़ और चेतन में क्या भेद हैं ?

उथर : जड़ और चेतन दो वस्तु नहीं है एक ही वस्तु के दो छोर या सिरों के नाम हैं । जो भाग स्फूरण से रहित है, उसे जड़ कह देते हैं और जो भाग स्फूरण युक्त है उसे चेतन कहते हैं । एक ही शरीर में नख,केश, दांत को जड़ कहते हैं और त्वचा आदि को चेतन कहते हैं । सघनता का नाम जड़ है और संवेग का नाम चेतन है । जल का सघन रूप बर्फ है और संवेग रूप जल है

। इससे सिद्ध होता है वस्तु एक है और उसके दो अवस्था से दो नाम पड़ गये हैं । संवेग चेतन सघन चेतन के आश्रित रहता है और प्रतीत होता है । इसलिये संवेग चेतन भी सघन चेतन रूप ही है । क्योंकि अध्यस्त की सत्ता अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती । जैसे शरीर सघन चेतन है और इन्द्रियाँ संवेग चेतन रूप है परन्तु इन्द्रियाँ स्थूल शरीर(सघन चेतन) के ही आश्रित रहती है । इसलिए इन्द्रियाँ भी संवेग चेतन न मानकर सघन चेतन रूप ही सिद्ध होती है । अर्थात् स्थूल शरीर रूप ही है । इसी प्रकार इन्द्रियाँ सघन चेतन है और प्राण संवेग चेतन है क्योंकि प्राण इन्द्रियों के आश्रित है इसलिए संवेग चेतन है और इन्द्रियों से प्राणों की रक्षा होती है इसलिए प्राण इन्द्रिय रूप ही है । इसलिए प्राण भी इन्द्रियों की तरह सघन चेतन रूप ही सिद्ध होता है । फिर प्राण सघन चेतन रूप है और अन्तःकरण संवेग चेतन रूप है क्योंकि प्राण के आश्रित ही अन्तःकरण है प्राण के बिना नहीं । इसलिए अन्तःकरण जो संवेग चेतन है प्राण रूप ही होने से सघन चेतन रूप है । फिर अन्तःकरण सघन चेतन रूप है और उसमें चिदाभास संवेग चेतन है, क्योंकि चिदाभास अन्तःकरण के आश्रित है, अन्तःकरण के बिना चिदाभास सिद्ध नहीं होता । अतः संवेग चेतन रूप चिदाभास भी अन्तःकरण का रूप होने से सघन चेतन ही है और चिदाभास सघन चेतन है तो उसका प्रकाशक चिदाकाश संवेग चेतन रूप है और चिदाभास कूटस्थ चिदात्मा का शूद्ध प्रकाश होने से चिदात्मा रूप ही है इसलिए एक ही चेतन सघनता और संवेगता दो रूपों को धारण कर स्थित होने से सघन अंश को जड़ तथा संवेग अंश को चेतन नाम से कथित कर दिया है । वास्तव में तो शुद्ध सत्ता ज्यों की त्यों अपने आप में जड़-चेतन के भेद से रहित विद्यमान है । उसी में जिज्ञासु को अपना निश्चय जोड़ना चाहिये और बुद्धि से सर्व प्रकार के सन्देहों को दूर रखना चाहिये ।

प्रश्न-५७ : कर्ता, कर्म और क्रिया रूप त्रिपुटी जीवकृत है या ईश्वर कृत ?

उत्तर : जहाँ द्वैत होता है वहाँ कर्ता, कर्म और क्रिया की भी कल्पना होती

है और जहाँ अद्वैत मात्र है वहाँ कर्ता, कर्म और क्रिया रूप त्रिपुटी किस प्रकार मानी जा सकती है ? क्योंकि ईश्वर अद्वैत है, दूसरा न था, न है, न होगा । इसलिए ईश्वर में कर्ता, कर्म और क्रिया रूप त्रिपुटी का प्रतीत होना यथार्थ ज्ञान नहीं है ।

यदि विचार कर देखे तो मालूम होगा कि आज तक कोई भी कर्म हुआ ही नहीं एक वस्तु स्व सत्ता में स्थित है । केवल देह अभिमान से याने परिच्छिन्न ज्ञान से भिन्न-भिन्न कर्म और उनके फल अज्ञानी को प्रतीत हो रहे हैं । अज्ञानी की प्रतीति मिथ्या होने से सर्व कर्म और उसके फल कल्पित और मिथ्या है ।

सुषुप्ति अवस्था में सर्व कर्म और उनके प्रेरक कर्ता इन्द्रिय अज्ञान में लीन हो जाती है और केवल ईश्वर(आत्मा) अपनी महिमा में स्थित रहता है । यदि ईश्वर कर्मों का कर्ता होता तो सुषुप्ति में भी कोई कर्म प्रतित होता, किन्तु सुषुप्ति में कोई कर्म प्रतित नहीं होता इसलिए सिद्ध होता है कि ईश्वर किसी कर्म का कर्ता नहीं और न कोई कर्म ही होता है । अज्ञान से कर्ता, कर्म और क्रिया की प्रतीति होती है । जब अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान द्वारा हो जाती है तो अज्ञान का जो कार्य त्रिपुटी रूप कर्ता, कर्म तथा क्रिया वह भी निवृत्त हो जाता है । अज्ञान पर्यन्त ही यह प्रतीत होती है । यह प्रथम भी निवृत्त ही थी किन्तु अज्ञान के कारण न होते हुए भी प्रवृत्ति रूप प्रतीत हो रही थी । जब यथार्थ ज्ञान हुआ तो मालूम हुआ कि जीव व ईश्वर भी दो तत्त्व नहीं है और अज्ञान स्वयं कोई वस्तु नहीं है तो सत्य स्वरूप ईश्वर जो अकर्ता है उसको कर्ता कह कर किस प्रकार विकारी या कलंकित किया जावे अद्वैत वस्तु ही अपने आप में स्थित है । इसलिए कर्ता, कर्म और क्रिया का अत्यन्त अभाव ही जाने ।

पहले यह जानले कि कर्म किसे कहते हैं तो इस प्रश्न का हल निकल आवेगा !

पांच तत्त्वों के स्वभाव को कर्म कहते हैं । भाव यह है कि एक-एक भूत सतोगुण रूप होकर ज्ञान, रजोगुण होकर क्रिया तथा तमोगुण होकर विषय बना हुआ है । इन तत्त्वों के दो स्वरूप है । एक व्यष्टि रूप, दूसरा समष्टि रूप । समष्टि स्वरूप कर्ता, क्रिया तथा कर्म के अभिमान से रहित जड़ रूप है और व्यष्टि स्वरूप में कर्ता, कर्म और क्रिया रूप होकर भिन्न-भिन्न कर्मों के कर्ता हैं । अभिप्राय यह है कि समष्टि स्वरूप याने विराट् स्वरूप जड़ अर्थात् अकर्ता और व्यष्टि शरीर में एक-एक भूत दो-दो इन्द्रिय होकर ज्ञान और कर्म को प्रकट करता है । जैसे आकाश जो शब्द स्वरूप है, श्रोत्र इन्द्रिय के रूप में शब्द को श्रवण करता है और वाक् इन्द्रिय के रूप में शब्द का उच्चारण करता है । इसलिए आकाश ही सुनने वाला, आकाश ही शब्द, और आकाश ही बोलने वाला है इसी प्रकार वायू, तेज, जल तथा पृथ्यी की भी त्रिपुटी रूप कार्य सिद्ध है । इस प्रकार सिद्ध होता है कि पंच तत्त्व अपने आप में अपने स्वभाव में ही स्थित है और यह पंच तत्त्व ईश्वर के स्वभाव है, इसलिए कुछ नहीं हो रहा है । केवल एक ही ईश्वर अपने आप में स्थित है न कोई कर्ता है, न कोई कर्म है और न कोई क्रिया ही है । जब कर्म ही सिद्ध नहीं होते तो कर्मों का कर्ता जीव अथवा ईश्वर तो स्वतः असिद्ध हो ही जाते हैं । संसार में जो कर्म का जाल फैला है कि यह शुभ कर्म है, यह अशुभ कर्म है या यह अकर्म है सब अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से ही फैला हुआ है और अज्ञानी जनों की ही कर्मों के करने अथवा त्यागने में आग्रह बुद्धि रहती है । वास्तव में तो अपने को शुद्ध, निर्विकार, अक्रिय निश्चय कर स्थित रहना चाहिये ।

प्रश्न-५८ : वर्ण तथा आश्रम के भिन्न-भिन्न कर्मों से जिज्ञासु किस प्रकार अपने को मुक्त करे ?

उत्तर : शरीर की उत्पत्ति के बाद मनुष्य के अपने उत्थान हेतु वर्ण आश्रम कल्पित किये गये हैं । वास्तविक दृष्टि से वर्णाश्रम शरीर में भी कहीं प्रतीत नहीं होते हैं । जब तक जिज्ञासु को स्वरूप का बोध नहीं हुआ है और

अपने को देह रूप निश्चय करके बैठा है तभी तक उसके लिये वर्णाश्रम के कर्म कर्तव्य रूप है । जिस ज्ञानी ने अपने को द्रष्टा, साक्षी, सच्चिदानन्द, ज्ञान मात्र निश्चय कर लिया है एवं जिसका आत्म निष्ठा से देह भाव गल चुका है उसके लिये शरीर के वर्ण आश्रमों के कर्तव्य कर्मो की देहाभिमानी की तरह कर्तव्यता नहीं है ।

''**तस्य कार्यं न विद्यते**'' -३/१७

जो पुरुष स्वरूप के अज्ञान से अपने आपको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र मानता है उसके लिये ही वर्णाश्रम के अनुसार वैदिक कर्मों की कर्तव्यता है । अथवा जो अपने को ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी अथवा संन्यासी निश्चय करता है तभी तक उसको उस आश्रम के धर्मों में बरतना पड़ता है, किन्तु जो अपने को चारों वर्ण तथा चारों आश्रम से रहित केवल आत्मा निश्चय करचुका है उसको किसी भी प्रकार के जाति अथवा आश्रमी कर्मों के करने का कोई प्रयोजन या कर्तव्य नहीं है । ऐसे आत्म निष्ठावान के लिए शास्त्र की विधि-निषेध आज्ञा भी नहीं है । चाहे तो वह आश्रम में रहे या आश्रमों का परित्याग कर शास्त्र की विधि-निषेध मर्यादा का भी उल्लंघन कर स्वेच्छा से प्रारब्धानुसार विचरण करे फिर भी वह तो सर्व कर्मों तथा धर्मों से मुक्त केवल सत्ता मात्र है । यद्यपि देखने वालों को वह ज्ञानी शरीर धारी प्रतीत होता है किन्तु वह स्वयं अपने प्रति शरीर की कल्पना से रहित निराकार, निर्विकार, असंग और अक्रिय है । इस प्रकार जिज्ञासु अपने आपका निश्चय करके भिन्न-भिन्न वर्ण तथा आश्रमों के कर्तव्यता से अपने को मुक्त निश्चय करे ।

''**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**'' ज्ञान समस्त भेद मूलक कर्मों का बाधक है । जब सद्‌गुरु द्वारा प्राप्त यथार्थ ज्ञान से जिज्ञासु ने अपने को भली प्रकार (सम्यक् रूप) आत्मा रूप से निश्चय कर लिया तब वह ज्ञानवान समस्त कर्मों और कर्मों के फल से मुक्त हो जाता है । यद्यपि शरीर पर्यन्त इन्द्रिय

और अन्तःकरण अपने-अपने कर्मों में प्रवृत होते दृष्टि आते हैं तथापि यथार्थ दर्शी ज्ञानी अपने को समस्त कर्मों से पृथक्, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तात्मा ही निश्चय करता है । यह सर्वोतम दृष्टि जीवन्मुक्ति के आनन्द प्रदायक है । ज्ञानी प्रारब्ध समाप्ति पर्यन्त शुद्ध आचार, शुद्ध व्यवहार, शुद्ध आहार से निर्वाह करता है । परन्तु किसी अधम प्रारब्ध संस्कार के कारण, किसी अमर्यादित कर्म के हो जाने पर भी उसमें कर्तव्य बुद्धि करके बन्धायमान् नहीं होता है और अज्ञानी की तरह उसका मुख भी मलिन नहीं होता है अर्थात् उसके तेज में कमी नहीं आती । समान्य रीति से वह अपना भीतर बाहर का व्यवहार एक जैसा पावन एवं निर्विकार ही रखता है । आसुरी सम्पदा के स्वभावों से रहित शुद्ध सतोगुणी भाव को लेकर देह सम्बन्धी काल को व्यतीत करता रहता है । इस प्रकार आत्म ज्ञानी समस्त लौकिक, वैदिक तथा पौराणिक, कायिक, वाचिक और मानसिक कर्तव्य कर्मों से शुद्ध होकर अपने आप में मग्न रहता है । इसलिए जिज्ञासु को उचित है कि बारम्बार अपने वास्तविक स्वरूप का ही चिन्तन करके अपने आपको देहाभिमान बढ़ाने वाले भिन्न-भिन्न कर्मों और धर्मों से मुक्त करें । जिससे शरीर के रहते हुए ही अशरीर गति को याने निराकार अवस्था को प्राप्त हो । जब जिज्ञासु ऐसे साक्षी भाव वाले पावन सर्वोच्च सिंहासन पर आरूढ़ होता है तब उसके लिए कोई भी कर्म, धर्म कर्तव्य नहीं होते वह सबको विस्मरण कर देता है ।

प्रश्न-५९ : यज्ञ, हवन और जप तप आदि कर्मों के अनुष्ठान से शांति की प्राप्ति होती है या नहीं ?

उत्तर : उपरोक्त कर्मों के करने वालों की बुद्धि में भेद भ्रम बना रहता है कि मैं कर्मों का कर्ता हूँ तथा मुझ से भिन्न कोई ईश्वर फल दाता है जो अज्ञान का ही कार्य होने से शांति प्राप्त नहीं होती । क्योंकि यह सब कर्म कल्पित हैं । यद्यपि लोगों में इन कर्म करने वालों की प्रसिद्धि होती है कि अमुक यज्ञ करने वाला है, अमुक दान देने वाला है, अमुक तीर्थ करने वाला है, अमुक भजन करने वाला है, अमुक कर्मकाण्डी है, अमुक बड़ा भक्त है, अमुक योग

करने वाला है, परन्तु इन सभी की आत्मनिष्ठा और असंग बुद्धि नष्ट होकर आत्म तृप्ति नष्ट हो जाती है । इसलिए आत्म जिज्ञासु का यही जाप है कि अपने सत् चित् आनन्द के बिना दूसरी और मन न लगावे । हवन यह है कि सब इन्द्रिय, विषय, अन्तःकरण और अन्तःकरण के धर्मों को द्रष्टा,साक्षी रूप अग्नि में हवन करे । तात्पर्य यह है कि अपने देह सहित समस्त दृश्यों को मिथ्या प्रतीत कर केवल आत्मा को सत्य निश्चय करे । यज्ञ का स्वरूप यह है कि किसी पदार्थ में ममता न करे । सब सामग्री को ईश्वर अर्पण करे । इसके बिना जितने कर्म है वे सब अज्ञान मूलक होने से भ्रम रूप है, और जिनके करने से आयू नष्ट होती है । इसलिए जिज्ञासु शांति सहित अपनी आत्मा में मग्न होकर काल व्यतीत करे और ऐसे कर्म करने वालों के संग से भी दूर रहे । क्योंकि उन कर्म करने वालों के संग से अपना वास्तविक स्वरूप द्रष्टा, साक्षी भाव का विस्मरण होकर कर्तव्य बुद्धि जाग्रत हो जाती है, जो दुःख का ही कारण है । इसलिए अपने वास्तविक स्वरूप द्रष्टाभाव पर निश्चय रखें । दूसरे कर्मों, धर्मों तथा मन्त्रों पर निश्चय करने से कष्ट के अलावा कुछ सिद्ध नहीं होता । जिससे समस्त कर्म, धर्म तथा मंत्र सिद्ध होते हैं, ऐसा स्वतःसिद्ध चेतन स्वरूप तो स्वयं आप है । इसी स्वरूप पर निश्चय रखने से समस्त संशय निवृत्त होकर शांति प्राप्त होगी । भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुष्ठान से बुद्धि व्यभिचारी हो जाती है । अज्ञानी जन बालक समान है जिनकी बुद्धि पुरातन कपोल कल्पित कथाओं तथा पुरातन इतिहास के पात्रों की विनोद रूप अर्चन और पूजन में अपनी श्रेष्ठता तथा महत्ता समझते हैं। इसलिए ज्ञानवान् एकांत सेवी आत्म स्थितिवान्, शान्तात्मा सर्व कर्म से मुक्त होकर केवल सत्ता मात्र स्वरूप में स्थित रहते हैं। अतः ऐसे वृद्ध पुरुषों का ही जिज्ञासु सेवन करें ।

प्रश्न-६० : जैसे भक्तों को भगवान् के दर्शन होते हैं ज्ञानी को क्यों नहीं होते ?

उत्तर : ***''जाकी रही भावना जैसी,***

प्रभू मूरत देखी तिन तैसी ।'' रामायण

भक्तों को जो भी भगवान के दर्शन होते हैं वह सब मनोराज्य अर्थात् मन की कल्पना मात्र होती है । इसी प्रकार अपनी कल्पना के कई भक्त जन अपने हृदय में मन द्वारा किसी स्वरूप का ध्यान दृढ़ कर स्वप्न पुरुषों की तरह उसी स्वरूप को देखते हैं और प्रसन्न होते हैं कि हमने भगवान का दर्शन पाया । यह दर्शन नहीं भ्रम है । यदि सत्य होता तो सूर्य दर्शन की तरह सभी जाति सम्प्रदाय वालों को एक ही रूप में दर्शन मिलना चाहिये था, किन्तु भगवान विष्णु कुछ ही वैष्णव भक्तों के ध्यान को छोड़ जैनी, इसाई, मुसलमानों के ध्यान में नहीं आता । न मोहम्मद और जीसू कुछ मुसलमान तथा इसाई भक्तों को छोड़ हिन्दु तथा जैनी के ध्यान में आते नहीं । इससे सिद्ध होता है कि यह सब मजहबी भगवान है जो एक देशीय, एक कालिक, एक जातिय मात्र के हैं । वास्तविक परमात्मा तो ''भावातीतम्'' एवं निराकार शक्ति स्वरूप है ।

ज्ञानी सदा एक आत्मा में ही निश्चय रखने वाला होता है और आत्मा केवल ज्ञान स्वरूप है । ज्ञान ही उसका दर्शन है इसके अलावा जो दर्शन होगा वह अन्य वस्तु का अन्य को ही होगा । आत्मा अपने आपको कहते हैं । अपने आपको आप देख नहीं सकते । जैसे नेत्र स्वयं को नहीं देख सकते । श्रोत्र स्वयं को सुन नहीं सकते । यदि कहे कि दर्पण द्वारा नेत्र देख सकते हैं तो यह समझना भी भ्रम रूप है दर्पण द्वारा नेत्र का प्रतिविम्ब दिखता है नेत्र नहीं । यदि दर्पण में दिखने वाले नेत्र को पत्थर मार दिया जावे तब कौन सी आँख फूटती है ? नेत्र तो वह सूक्ष्म तन्मात्रा है जो काली पुतली के पीछे स्थिर होती है । वास्तविक नेत्र तो अगोचर है ''जग पेखन तुम देखन हारा'' आत्मा के दर्शन में तो नेत्र का द्रष्टांत भी उपयोगी सिद्ध नहीं होता क्योंकि आत्मा केवल केवली रूप है, उसमें देखने वाला, देखना और देखने योग्य रूप त्रिपुटी का पूर्ण अभाव है । केवल सद्गुरु के उपदेश द्वारा जब ज्ञान होता है कि मैं स्थूल, सूक्ष्म, कारण, शरीर एवं जाग्रत,स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था

का साक्षी और प्रकाशक केवल सच्चिदानन्द चिदाकाश रूप चिदात्मा हूँ । यही दर्शन यथार्थ दर्शन है । जब इस प्रकार के ज्ञान को मनन व निदिध्यासन करने से संशय और विपर्यय निवृत्त हो जाते हैं । फिर किसी भी शास्त्र को पढ़कर अथवा सुनकर या किसी भेदवादी के प्रलाप को सुनकर अपने आत्म स्वरूप के प्रति बुद्धि में तनिक भी संशय उदय नहीं होता । फिर वह पर्वत की तरह अपने स्वरूप के निश्चय में अटल और अचल ही रहता है । इसलिए तुम अपने को आत्मा निश्चय करो । अपने को भूलकर आत्मा की खोज में न भटको, न दर्शन की ही अभिलाषा रखो । तुम्हारा स्वरूप स्वतः सिद्ध केवल चिदाकाश रूप है । सब आकार और स्वरूप तुम्हारे में ही कल्पित है ।

तुम ज्ञान स्वरूप हो अन्तःकरण की सब वृत्तियों के साक्षी हो, शुभ और अशुभ के भी तुम प्रकाशक हो । ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, देवी तथा अन्यान्य काल्पनिक इष्टों के भी तुम ही ज्ञाता हो । अपने को भूलकर अपनी परछाई के पीछे क्यों दौड़ते हो । जैसे नेत्र द्वारा समस्त पदार्थ दिखते हैं परन्तु नेत्र जो सब दर्शन का अधिष्ठान था वह विस्मरण हो जाता है और उससे दूसरे पदार्थ दृष्टि आते हैं । जैसे दर्पण के आधार से ही उसमें सब दृश्य प्रतीत होते हैं किन्तु दर्पण दृष्टि से छुपा रहता है । इसी प्रकार साक्षी द्वारा सब अन्दर और बाहर के पदार्थ दृश्य प्रतीत होते हैं परन्तु साक्षी के दर्शन नहीं होते । मैं साक्षी आत्मा हूँ ऐसा ज्ञान नहीं रहता किन्तु संसारी दूसरे पदार्थों का ज्ञान परिपक्व हो जाता है इसलिए मंदज्ञानी को साक्षी रूप परमात्मा के दर्शन की जिज्ञासा होती है । किन्तु साक्षी तुम स्वयं हो । अपने को भूलकर दूसरे पदार्थों की ओर दृष्टि लगा रहे हो और अपने ही दर्शन की इच्छा कर रहे हो । यदि दर्शन भी हुआ तो विचार करो कि उस स्वरूप को देखने वाला और समझने वाला कौन है ? उस स्वरूप को देखने वाला और समझने वाले तो तुम ही साक्षी हो । अतः अपने को साक्षी परमातमा निश्चय कर दर्शन के भ्रम से मुक्त रहो । तुम सबको देखने वाले हो और आप अनुभव रूप हो । न

कोई तुम्हारा प्रमाण है, न रंग, न स्थान है, पूर्ण स्वरूप सत्ता मात्र केवली भाव रूप आपमें स्थित हो ऐसे स्वरूप का निश्चय कर सदा हर अवस्था में तृप्त रहो ।

प्रश्न-६१ : मन की स्थिरता अष्टांग योग से ही होती है अथवा अन्य कोई सुख रूप सरल साधन भी है ?

उत्तर : नाम रूपात्मक द्वैत कल्पित है यदि वास्तविक होता तो उसकी निवृत्ति योग अथवा ज्ञान किसी भी साधन से नहीं होती । निवृत्ति उसी वस्तु की होती है जो वस्तु सत्य रूप न हो केवल भ्रांति से ही सिद्ध हो । भ्रांति वस्तु अयथार्थ ज्ञान से उदय होती है और कल्पित की निवृत्ति कल्पित से ही होती है । नाम रूपात्मक द्वैत संकल्प मात्र होने से कल्पित है इसलिए इनकी निवृत्ति तथा इनकी निवृत्ति के उपाय, योग तथा ज्ञान भी कल्पित है । इनमें भेद इतना है कि यथार्थ ज्ञान सुख रूप साधन है और प्रमाण जन्य है और अष्टांग योग कठिन और हठ जन्य है । ज्ञान अष्टांग योग से श्रेष्ठ है । क्योंकि थोड़े ही समय में जीवके अज्ञान जन्य द्वैत को निवृत्त कर कृत-कृत्य करता है । और अष्टांग योग बहुत काल कठिन अभ्यास करने पर भी पूर्ण सिद्ध नहीं होता । अष्टांग योग द्वैत कि निवृत्ति का उपाय न होकर केवल द्वैत की सिद्धि का ही उपाय है उससे द्वैत भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती । जो केवल जड़ रूप है । यदि जड़ता से ही द्वैत की निवृत्ति माने तो ज्ञानी अज्ञानी बिना प्रयत्न के प्रति रात्रि सुषुप्ति अवस्था में जड़ता को प्राप्त होते ही हैं किन्तु जागने पर उनका तनिक भी द्वैत भाव निवृत्त होता नहीं दिखता । जब जाग्रत अवस्था में किसी यथार्थ ज्ञानी सद्‌गुरु का उपदेश श्रवण करते हैं तभी अज्ञान भ्रम निवृत्त हो पाता है । तब सब समय यथार्थ वस्तु का ज्ञान और भान रहता है इसलिए केवल अष्टांग योग सुषुप्तिवत् मूढ़ता युक्त होने से अज्ञान निवृत्ति का साधन नहीं है ! जब योग अज्ञान निवृत्ति ही नहीं कर सकेगा तो अज्ञान जन्य द्वैत की निवृत्ति भी कैसे कर सकेगा ? और बिना नाम रूपात्मक द्वैत के निवृत्त हुए मन कैसे शांत रह सकेगा ? इसलिए अष्टांग योग अज्ञान निवृत्ति में

निष्फल केवल श्रम मात्र है । यदि विचार पूर्वक सोचें तो मालूम होगा कि सृष्टि के आरम्भ से ही प्राणों की गति शरीर के साथ संयुक्त की है जिसे निरोध करना प्रकृति के विरूद्ध है । और जो कर्म प्रकृति के अनुसार है वे बिना प्रयत्न स्वतः हो रहे हैं । जैसे दस इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और प्राणों की चेष्टा आदि कर्म स्वाभाविक हो रहे हैं । फिर प्राणों के निरोधार्थ बहुत काल प्रयत्न भी किया तो भी वह पूर्ण अवरूद्ध नहीं होता । यदि कुछ काल निरोध भी हुआ और मन भी शान्त हुआ तो फिर अभ्यास छोड़ते ही तुरन्त प्राणों की स्वाभाविक क्रिया से मन पुनः चंचलता को प्राप्त हो जावेगा । तो यत्न कर हठ योग द्वारा मन रोकने का फल बालक श्रृगांर या हाथी स्नान रूप ही हुआ । केवल आयु नष्ट होती है किन्तु अज्ञान निवृत्त नहीं होता । इसलिए ज्ञानीजनों द्वारा तत्त्व ज्ञान ही सर्व श्रेष्ठ साधन निश्चय हुआ है । बाह्य यत्न के बिना केवल श्रोत्र सम्बन्धी वाक्य द्वारा वृत्ति के साथ तद्रुप होकर वृत्ति के अज्ञान को निवृत्त करता है । इसलिए ज्ञान योग अत्यन्त सरल और अल्प समय में ही सिद्ध हो सकता है ।

आत्म ज्ञान के साधन काल में एवं प्राप्ति के बाद भी देह निर्वाह हेतु इन्द्रिय और अन्तःकरण के स्वाभाविक धर्मों का त्याग करना अपेक्षित् नहीं है । किन्तु समस्त पदार्थों एवं क्रियायों को भली प्रकार प्रकृति का जानकर निज स्वरूप में स्थित रहना ज्ञान का फल है । हमारा स्वरूप केवल ज्ञान मात्र, सत्ता मात्र अनुभव गम्य है । ऐसे निष्ठावान् ज्ञानी हेतु अष्टांग योग करना किंचित् भी कर्तव्य नहीं है । न मन के फुरने के साथ प्रीति करे, न प्राणों की क्रिया को देखें । और न प्राणों के निरोध का प्रयत्न करें । दोनों के मध्य केवल सत्ता मात्र होकर स्वयं स्थित रहें ।

आह ! कैसा अपना स्वरूप है जिसमें मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार अनंत वृत्तियों के सहित तरंगों के समान उत्पन्न और लीन होते हैं फिर भी तनिक सी वृद्धि अथवा न्यूनता मुझ अगाध सत्ता रूप सागर की नहीं कर सकते । बल्कि मुझमें मेरा ही रूप होकर समा जाते हैं । ऐसा असीम,

अगम, अगाध, अपार, अनन्त जो अपना स्वरूप नित्य प्राप्त है उसके लिये केवल ज्ञान ही आवश्यक है ।

प्रश्न-६२ : शुद्ध चेतन आत्म स्वरूप में स्थिति करने हेतु क्या प्रयत्न साधन अपेक्षित है ?

उत्तर : शुद्ध चेतन आत्मा अपरोक्ष-नित्य प्राप्त वस्तु है । प्राप्त वस्तु को यत्न साध्य निश्चय कर मिथ्या उपायों में प्रवृत्त होना कर्म काण्डी भेदवादियों को ही अपेक्षित है । वे यह नहीं जानते कि सत्य वस्तु की प्राप्ति स्वतःसिद्ध है । जिस वस्तु की प्राप्ति यत्न और साधन से होती है वह वस्तु मिथ्या एवं दुःख रूप होती है । स्वतः सिद्ध शुद्ध चेतन आत्मा की प्राप्ति हेतु केवल यथार्थ ज्ञान श्रवण करना ही कर्तव्य रूप है । यदि श्रवण मात्र से संशय और विपर्यय रहित ज्ञान हो जावे तो उसके उपरान्त किसी अभ्यास अथवा समाधि लगाने की आवश्यकता नहीं रहती । यदि श्रवण के बाद भी संशय और विपर्यय दोष, बुद्धि निवृत्त नहीं होते हैं, तो ऐसे साधक श्रवण किये हुए महावाक्यों को अभेद की साधक और भेद की बाधक नाना युक्तियों द्वारा मनन करना चाहिये । यदि मनन करने के पश्चात् भी अपना स्वरूप संशय विपर्यय रहित प्रतीत न हो तो सजातीय वृत्ति का सतत् प्रवाह तथा विजातीय वृत्ति का तिरस्कार रूप निदिध्यासन करना चाहिये, किन्तु अन्य साधन अपेक्षित नहीं है । यदि करेगा तो उदय ज्ञान भी नष्ट हो जावेगा । आत्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष इसी कारण से ध्यान-समाधि आदि साधनों का अभ्यास नहीं करते है । सब अवस्थाओं तथा दृश्य पदार्थों को कल्पित और अयथार्थ निश्चय कर विस्मरण करने के बाद जो नेति-नेति का भी साक्षी केवली मात्र रहे वह शुद्ध चेतन स्वपद है, उसमें स्थित होना ही निदिध्यासन है । जब ज्ञानी संशय विपर्यय से मुक्त हो अपने को केवल अनुभव मात्र देखता है, तब वह कृत-कृत्य हो जाता है । कल्पित भेद की निवृत्ति केवल अभेद ज्ञान से होती है; दूसरे योग आदि उपायों से नहीं होती । क्योंकि अष्टांग योग सविकल्प समाधि, शब्द और सुरत का मिलाप अनाहत शब्द ऊपर चढ़ना, गगन मंडल, अमृत पान

आदि क्रियाएँ अज्ञान जन्य होने से भेद के साधक है । इसलिए यथार्थ दर्शी ज्ञानवान और अनुभवी महात्माओं की दृष्टि में ये सब बालकों की क्रीड़ा के समान अर्थहीन, तुच्छ और त्याज्य है । केवल स्वतःसिद्ध साक्षी रूप अवस्था में मन कि निरन्तर स्थिति ही ज्ञानवान का धर्म है । वह कभी भी अपने को द्रष्टा, साक्षी, आत्मा अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं देखता । वह नित्य तृप्त, नित्य निर्विकल्प, साध्य, साधन, साधक त्रिपुटी से रहित साक्षी भाव में स्थिर रहता है । इसी का नाम अखंड समाधि है । इस प्रकार की बिना प्रयत्न अखंड समाधि का त्याग कर योग आदि साधनों द्वारा सिद्ध खंडित समाधि के लिए यत्न करना उचित नहीं । ऐसी अगोचर अवस्था को बालकों के समान अज्ञानी भेदवादी कैसे समझ सकते है ? वह तो बालकों के समान ऊपर चढ़ने, नीचे उतरने, नाक दबाने, आखँ मूँदने, नाड़ियों का शब्द श्रवण करने, प्राणों के गमन, आगमन मन कल्पित सोहं शब्द का ध्यान करने, मन की थकित अवस्था को समाधि निश्चय करने, कल्पित चक्रों एवं अक्षरों को स्मरण करने तथा मन के भले-बुरे विचार से उत्तम, अधम लोक एवं योनि की प्राप्ति मान अपनी बुद्धि, बल तथा आयू का नाश कर रहे हैं । इसलिए यथार्थ ज्ञानी उपरोक्त सभी अवस्थाओं को कल्पित जानकर अपने आप में मग्न रहते हैं । यथार्थ दर्शी ज्ञानी जन को यथार्थ ज्ञान के उपरान्त किंचित् मात्र भी कर्तव्य नहीं रहता । कर्तव्य सदा मिथ्या या असत्य के लिए होता है जो तीनों काल में समान नहीं है । सत्य वस्तु तो तीनों काल में बिना चेष्टा के सबको सहज सुलभ नित्य प्राप्त ही है । इसलिए स्वतः सिद्ध वस्तु के लिए यत्न करना निष्फल और निरर्थक है ।

प्रश्न-६३ : एकान्त स्थान में वास करने का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर : जिस एक में सबका अन्त हो जाता है जो सबका अधिष्ठान है ऐसी सत्य वस्तु में मन की स्थिति होना एकान्त वास है । जहाँ एक व अनेक समाप्त होते हैं, उस निर्विकल्प देश में मन की स्थिति होने का नाम ही एकान्त देश है । ध्याता, ध्येय व ध्यान तथा ज्ञाता,ज्ञेय व ज्ञान की त्रिपुटी से रहित

जो बोध मात्र सत्ता है, वह एकान्त देश है । जहाँ मैं, तू, वह का भेद नहीं ऐसी अखंड व्यापक असंग सत्ता जो अनुभव मात्र है उसमें मन को स्थित करना ही एकान्त देश है । उसी में सब जीवों की स्थिति भी है किन्तु अज्ञानी भ्रम वश उस देश को अपने से पृथक् दूर मानकर खोजने का श्रम कर दुःखी होते हैं । प्रायः अविवेकीजन नित्य, सहज प्राप्त वस्तु को कठिन मानकर नाना प्रकार के यत्नों और साधनों में प्रवृत हो रहे हैं किन्तु उन्हें तनिक भी शांति नहीं मिल रही है । जब अज्ञानी साधक को किसी यथार्थ तत्त्ववेता का उपदेश श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त होता है तब अपने को देह व मन के गुण-कर्म स्वभाव से पृथक् साक्षी निश्चय कर यत्न और साधना से रहित निर्विकल्प स्वरूप में स्थित होता है । ज्ञानियों का यही एकान्त स्थान में वास है । अन्दर बाहर के भेद रहित होकर असंग, व्यापक केवल चिदाकाश स्वरूप में बुद्धि को स्थिर करना ही एकान्त देश में स्थिति करना है । तात्पर्य यह है कि बुद्धि से अद्वितीय अखंड़ आत्मा के अलावा किंचित् भी भेद न देख सब ओर अभेद रूप निज आत्मा को ही देखना सर्व त्याग रूप संन्यास है और यही एकान्त वास है ।

प्रश्न-६४ : आत्म अभ्यास के लिये जब एकान्त में बैठते हैं तो अन्य-अन्य शब्द, दृश्य, विचार फुरते हैं, किन्तु स्वरूप का ज्ञान क्यों नहीं होता ?

उत्तर : एकान्त देश अथवा आत्म अभ्यास के समय ही नहीं बल्कि सब समय तुम्हें तुम्हारे आत्मस्वरूप का ही दर्शन, ज्ञान अनुभव हो रहा है । इस होने का तुम्हें अज्ञान है, अर्थात् बोध नहीं है, इसीलिए, दुःखी होते हो और उसे अलग से देखना चाहते हो । याद रखें ! ध्यान के समय या व्यवहार के समय जो भी शब्द, विचार दृष्य फुरते हैं उनको प्रकाशित करने वाले तुम ही हो वही तुम्हारा स्वरूप है । जो स्वयं प्रकाश है उसे कोई प्रकाशित नहीं कर सकता । जो चेतन है उसे कोई जान नहीं सकता । जो द्रष्टा है, उसे कोई देख नहीं सकता । क्योंकि चेतन, साक्षी, द्रष्टा, स्वंय प्रकाश आत्मा तुम एक ही

हो, ऐसी दशा में कौन किसके द्वारा किसे जानें ? तथा जानना, देखना, सुनना दो के मध्य सम्भव होता है ।

"विज्ञातारं रे केन विजानियात" जिससे सब जाना जाता है उसे किससे जानोगे क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता नहीं है शेष सभी जड़ एवं नाशवान है । बृहता. उप. ३/४/२, ३/७/२३

तात्पर्य यह है कि जिससे समस्त प्रपंच शब्दादिक विषय उत्पन्न होते हैं जिसके सहारे रहते हैं और जिसमें लीन होते हैं और जो इन तीनों अवस्थाओं को जानता है, वह साक्षी तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है और वही तुम्हारा अपना आप है इसके अलावा उसे अन्य प्रकार से जानने का कोई मार्ग नहीं है । निराकार जब भी दिखेगा तो साकार रूप ही होकर दिख सकेगा । सूक्ष्म अग्नि लकड़ी के आश्रय ही प्रकट होती है या वायु, गुब्बारा, टयुब, ब्लाडर, पंखा, कूलर के अनुरूप दिखेगी ।

आश्चर्य है कि साधक आप आत्मा होने पर भी अपने स्वरूप को भूलकर अपनी कल्पना को सत्य रूप देखना चाहता है । तुम स्वयं ही स्वरूप हो अपना अनुभव किस लिए चाहते हो ? तुम्हारा स्वरूप स्वतः सिद्ध और अद्वैत है । उसके लिए साधन या अष्टांग योग कर्तव्य रूप नहीं है । आत्मा नित्य अनुभव स्वरूप है । अनुभव का अनुभव कैसे हो ? क्योंकि अनुभव केवल केवली रूप है और सबका प्रकाशक है । सब वस्तु उसी के प्रकाश से प्रकाशित होती है इसलिए सब दृश्य संसार प्रकाश्य रूप है प्रकाश्य वस्तु अपने प्रकाशक को कैसे प्रकाशित कर सकती है ?

'जगत् प्रकाश्य प्रकाशक रामु'

प्रकाश्य कल्पित एवं मिथ्या है प्रकाशक सत्य है । अतः मिथ्या वस्तु सत्य वस्तु को कभी प्रकाशित नहीं कर सकती । क्या कोई दूसरा प्रकाशक है जो प्रकाशक का प्रकाशक बने याने सर्व द्रष्टा को जनावे ? यदि

कहो कि हमें स्वरूप का अनुभव कैसे हो ? तो स्वरूप स्वयं अनुभव ही है । अब अनुभव का अनुभव सम्भव नहीं है । क्योंकि अनुभव अद्वैत है । वह अद्वैत अनुभव तुम्हारा अपना स्वरूप है और नित्य प्राप्त है । क्यों व्यर्थ मूर्खों की बातें सुनकर स्वयं सिद्ध आत्म स्वरूप के प्रति संशय विपर्यय में पढ़कर कष्ट पाते हो ? अज्ञानी भेदवादी महात्माओं के संग में मुमुक्षुजन नाना मत मतान्तर के जालों में फंस शास्त्र में नहीं कहे गये ऐसे उग्र तपों को तपकर कष्ट पाते रहते हैं । हे जिज्ञासुओं ! यत्न त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित रहो । जब तक देह, इन्द्रिय तथा प्राणों का मन से संयोग रहेगा तब तक उनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादि विषयों का ज्ञान स्वभाविक होता रहेगा । यह मन, इन्द्रिय तथा विषय भी व्यापक आत्मा से भिन्न नहीं है । सर्व ब्रह्माण्ड केवल अनुभव स्वरूप है । रंचक मात्र भिन्न नहीं है । वह अनुभव तुम हो, इसलिए तुम सर्व रूप हो । किसका त्याग करना चाहते हो ? तुम्हारे अलावा कौन दूसरा है जो आँख बन्द कर ध्यान की गुफा में जाकर देखने हेतु प्रयत्न कर रहे हो ? तुम्हारे लिए क्या अप्राप्य है जो ग्रहण करने हेतु प्रयत्नशील, व्याकुल, आतुर प्रतीत हो रहे हो ? जब तुम आप ही सर्व रूप हो तो ग्रहण त्याग से मुक्त, नित्य आप में संतुष्ट रहो ।

प्रश्न-६५ : वृत्ति की व्यभिचारिता से ऊपर उठकर जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ?

उत्तर : वृत्ति का धर्म ग्रहण, त्याग, शांत, चंचल, काम, क्रोध आदि है वृत्ति के अधिष्ठान में इन समस्त द्वन्द्वों की किंचित् भी सम्भावना नहीं है । इसलिए वृत्ति के द्वारा होने वाले कार्यों को वृत्ति का ही कार्य देखना ज्ञानीजनों की बुद्धिमता है यही ''कर्म में कुशलता'' है । यह वृत्ति अपने आत्म अधिष्ठान में इस प्रकार कल्पित है, जैसे जल में तरंगें । जैसे तरंग की चंचलता जल में किसी प्रकार की क्षति या दोष उत्पन्न नहीं कर पाती तथा तरंगों की शान्तावस्था से जल में कोई गुण विशेष उत्पन्न नहीं होता । बल्कि जल, तरंगों के भाव-अभाव में ज्यों का त्यों समान ही रहता है । इसलिए

जल की दृष्टि ही यथार्थ है तरंग की दृष्टि अयथार्थ है । उसी प्रकार वृत्तियों में फुरने से अधिष्ठान साक्षी आत्मा की न्युनता नहीं होती और वृत्तियों के त्याग से अधिष्ठान में कोई विशेषता नहीं होती । वृत्ति के ग्रहण तथा त्याग अवस्था में आत्मा अधिष्ठान समान है । इसलिए अधिष्ठान की दृष्टि यथार्थ है । अधिष्ठान सत्य स्वरूप होने से ग्राह्य है और वृत्ति कल्पित होने से त्याज्य है । अपने स्वरूप में वृत्ति की कल्पना को त्याग कर अधिष्ठान आत्म स्वरूप में अर्थात् अपने आप में स्थित रहना उचित है । अस्तु केवल अधिष्ठान रूप निश्चय करना यथार्थ ज्ञान है । ऐसे वृत्ति के भाव-अभाव में समता का रस पीते रहना चाहिये, किन्तु कभी भी वृत्ति की चंचलता-एकाग्रता, को अपने अधिष्ठान स्वरूप आत्मा में अरोपित न कर सब द्वन्द्वों से रहित केवल केवली भाव स्वरूप में स्थित रहना ही निर्विकल्प अवस्था है । ऐसी अवस्था का दृढ़ अभ्यासी जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द को प्राप्त होता है । आत्मा ज्ञान मात्र, अनुभव मात्र, बोध मात्र, सत्ता मात्र है उसमें ग्रहण त्याग किंचित् भी सम्भव नहीं है यह उदय अस्त से रहित सदा समान रूप है । आत्मा नित्य स्वतः सिद्ध और स्वयं प्रकाश स्वरूप है इसलिए यह किसी से आवृत नहीं होती । यह स्वरूप तुम्हारा है ऐसे स्वरूप में निरन्तर मन को स्थिर रखो । याने अपने होने का निश्चय रखो ।

प्रश्न-६६ : तत्त्व ज्ञानी को जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द हेतु मनोनाश तथा वासनाक्षय करना होगा या नहीं ?

उत्तर : तत्त्व ज्ञान से वासना नष्ट हो जाती है । यदि श्रवण मात्र से शांत न हो तो मनन व निदिध्यासन के बारम्बार अभ्यास से क्षीण हो जाती है । तत्त्व ज्ञान का स्वरूप स्वयं सिद्ध अद्वैत वस्तु है । द्वैत न था, न है और न होगा । जब द्वैत ही असिद्ध है तब मन और वासना कैसे सिद्ध होंगे ? इसलिए मन और वासना दोनों असिद्ध है । केवल सत्ता सामान्य अपने आप में स्थित है । सत्ता चेतन स्वरूप है और चेतन का अर्थ सत्ता स्फूरण है । फुरना सत्ता का स्वरूप है और नित्य ही सत्ता से अभिन्न होकर अपने स्वभाव में प्रवृत्त रहता

है । इसलिए देह में चेतना रहने तक फुरने का नाश कदाचित् नहीं हो सकता । मन, वासना और फुरना पर्याय शब्द है । फुरना और चेतना भी पर्याय शब्द है । इसलिए मन और वासना चेतन रूप है, द्वैत वस्तु नहीं है । इस प्रकार इन तीनों को अभेद रूप निश्चय करने का अभ्यास ही इनका लय या क्षय है । जब अद्वैत सत्ता अपने आप में स्थित है और अपने स्वभाव को नहीं छोड़ती है तो मन और वासना भी अद्वैत रूप होने से अपने स्वभाव में स्थित है । ऐसा निश्चय करने से मन और वासना की भेद भ्रांति नष्ट हो जाती है । इसी का नाम मनो नाश और वासना क्षय है । तात्पर्य यह है कि तत्त्व ज्ञान की दृढ़ता और अपरोक्षता से मन और वासना की सत्ता का अभाव हो जाता है । केवल अद्वैत वस्तु अपना आप भेद से रहित प्रतित होता है । इसलिए इसी यथार्थ दृष्टि का अभ्यास जीवन्मुक्ति के आनन्द हेतु जिज्ञासु को कर्तव्य है अन्य साधन अद्वैत में बाधक है ।

वैसे तो जगत् के धन्धों से रहित, बाह्य प्रवृत्तियों से रहित ज्ञानी पुरुष ही जीवन्मुक्ति का पूरा-पूरा आनन्द उठा सकते हैं । जिस अज्ञानी को अपने स्वरूप में आनन्द की कमी प्रतीत होती हो, जो स्वयं को आनन्द रूप न जानता हो वह संसारिक व्यवहार से जितना उपराम रहकर वृत्ति को ब्रह्माकार बनाये रखेगा उतना ही आनन्द लाभ कर सकेगा । क्योंकि संसार के व्यवहार विशेष में मन की एकाग्रता व ब्रह्माकार वृत्ति विषयाकार में बदल जाती है जिससे एकाग्रता जन्य ब्रह्माकार वृत्ति एवं उससे जन्य आनन्द लाभ नहीं होता ।

जिस तत्त्वदर्शी ज्ञानी को अपने अखंड आनन्द स्वरूप का पूर्ण बोध हो गया है, उनके लिए वृत्ति की एकाग्रता अथवा चंचलता, विषयाकार या ब्रह्माकार के होने न होने में कोई विक्षेप या स्थिरता प्राप्त नहीं होती । वह तो इन समस्त वृत्तियों का साक्षी ही बना रहता है । इनके कार्यों को होता देख अपने से पृथक् निश्चय कर आनन्द मग्न रहता है और अज्ञानी वृत्ति को स्थिर करने मनोनाश अथवा वासना क्षय करने के अभ्यास का बोझा ढ़ोते कष्ट

उठाते रहते हैं । फिर भी उनको पूर्ण शांति नहीं मिलती है, क्योंकि वृत्ति स्वयं अस्थिर है तो उससे मिलने वाली शांति, आनन्द, स्थिर कैसे रहेगा ? अतः समस्त वृत्तियों का अपने को साक्षी जान आनन्द मनावें ।

प्रश्न-६७ : मुक्ति हो जाने के बाद क्या आत्मा अभावात्मक निःस्वरूप अवस्था को प्राप्त हो जाता है ?

उत्तर : साधन परिपक्व होने पर इस जीवन में ही मुक्ति लाभ किया जा सकता है; जिसे जीवन् मुक्ति नाम से कहा जाता है । मुक्ति प्राप्त व्यक्ति शून्यावस्था को प्राप्त नहीं होता । उसके लिये संसार न तो नष्ट होता है और न प्रतीति ही नष्ट होती है । मुक्त पुरुष की दृष्टि में किसी भी पदार्थ की अपने से अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती । जीवन मुक्ति के बाद भी मुक्त पुरुष विचरणार्थ या जीव कल्याणार्थ उपदेश करने हेतु विदेह मुक्ति का त्याग कर इच्छानुसार आनन्द पूर्वक विविध लोक लोकान्तरों में भ्रमण करता है । भ्रमण का मतलब यहाँ द्वैत सदा बना रहता है ऐसी शंका नहीं करना चाहिये । जैसे जल की दृष्टि में फेन, तरंग, बुदबुदा, भ्रमरी, भाप, बादल, ओस, कुहरा, बर्फ आदि कोई भिन्न वस्तु नहीं है वैसे ही मुक्त आत्मज्ञानी की दृष्टि में ब्रह्म भावना पूर्णतया आ जाने पर अपने से भिन्न उसे अन्य कुछ नहीं दिखता । आप कह सकते हैं कि फिर वह जीवन मुक्त इच्छानुसार लोकों में भ्रमण कैसे कर सकेगा ? तो ऐसा मानना ठीक नहीं कि मुक्ति की अवस्था में सब ध्वंस होकर शून्य ही शून्य रहेगा । बद्ध तथा मुक्त अज्ञानी तथा ज्ञानी में केवल भेद इतना ही रहता है कि अज्ञानी को संसार की प्रतीति सत्य रूप होती है और ज्ञानी को मिथ्या रूप होती है । यानी ज्ञानी के व्यवहार में तो सत्यता संसार की रहती है परन्तु परमार्थ से संसार की सत्यता नहीं है । मुक्ति प्राप्त ज्ञानी को अपने से भिन्न किसी पदार्थ, व्यवहार अथवा व्यक्ति की भिन्न स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत नहीं होती । तैत्तिरीय उपनिषद के भृगुवल्ली में मुक्त व्यक्ति को लोकान्तर में इच्छानुसार गमन कहा है ।

योऽयमन्नान्नादि.............लोकान् सच्चरन् ।
सर्वात्मना इमाम् लोकान् आत्मत्वेन अनुभवन् ।।

- भृगुवल्ली दशम अनुवाक ४ मंत्र (शंकर भाष्य)

इस प्रकार मुक्त ज्ञानी पुरुष सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करता हुआ महा आनन्द में निमग्न रहता है । अतएव ऐसा मानना ठीक नहीं कि मुक्त हो जाने पर सब कुछ उसके लिए अभाव रूप हो जाता है ।

नेत्र इन्द्रिय द्वारा रूप को देखने की क्रिया में अज्ञानी को द्वैत बोध होता है । उसका यही निश्चय होता है कि मैं और हूँ, तथा यह जगत् और है । अज्ञान अर्थात् अविद्या से सभी पदार्थ ब्रह्मरूप से भिन्न स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं । इस प्रकार के भेद निश्चय का निरोध होना ही ज्ञान है । याने ब्रह्म स्वरूप से भिन्न किसी इन्द्रिय पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मान सबको एक ब्रह्म स्वरूप देखना ही ज्ञान है । चित्त निरोध का अर्थ चित्त का पूर्ण रूप से अभाव या नष्ट कर देना नहीं है । मन यदि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ग्राह्य विषयों को श्रोत्र, त्वचा, चक्षु जिह्वा घ्राण ग्राहक इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करे तो द्वैत ज्ञान माना जाता है । मन यदि ग्राह्य-ग्राहक, रूप से स्पन्दित न हो; केवल एक आत्माकार से ही हो, याने प्रत्येक क्रिया पदार्थ तथा करण (इन्द्रिय) सर्व ब्रह्म स्वरूप ही जानता है तब अद्वैत ज्ञान सिद्ध हुआ माना जाता है । अतएव मन को ग्राह्य-ग्राहक आकर से स्पन्दित न होने देकर केवल आत्माकार से सर्वत्र ब्रह्म दर्शनाकार से स्पन्दित होने का अभ्यास बढ़ाना चाहिये । मन के निरोध का मतलब यह कभी नहीं समझे कि मन में किसी प्रकार से स्पन्दन ही न हो, बल्कि किसी भी स्पन्दन को ब्रह्म से भिन्न सत्ता एवं क्रिया नहीं है, इस प्रकार निश्चय करने से आत्म ज्ञान दृढ़ होकर सर्वत्र ब्रह्म दर्शन होने लगते हैं तथा चित्त में **मैं ब्रह्म हूँ** यही भाव अंकुरित हो जाता है । इस प्रकार विषय ज्ञान का स्थान अद्वैत ब्रह्मज्ञान ले लेता है । इसी की परिपक्व अवस्था को मुक्ति कहते हैं ।

प्रश्न-६८ : मैं आत्मा अकर्ता-अभोक्ता सामान्य ज्ञान स्वरूप है, इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर : जिनका जो सहज स्वभाव होता है वह कभी नहीं बदलता है । जैसे चीनी की मधुरता, नीम की कटुता, जल की शीतलता, अग्नि की उष्णता, दाहकता आदि । अग्नि में जब भी कोई काष्टादि पड़ेगा अग्नि उस वस्तु को तत्क्षण भोगने हेतु झपट पड़ती है । चलती हुई आरा मशीन की ब्लेड के स्पर्श में जो भी वस्तु आती है वह काटना शुरु कर देती है । इसी प्रकार यदि आत्मा का सहज धर्म कर्ता-भोक्तापन होता तो फिर वह कभी भी रुक नहीं पाता । सुषुप्ति अवस्था में अनुकूल पदार्थ होने पर भी कोई भोग इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं हो पाता है । क्योंकि उस समय भोग की इच्छा करने बाला और उससे सुख-दुःख अनुभव करने वाला अन्तःकरण अपने कारण अज्ञान सहित प्राण में लय हो जाता है, इसलिए आत्मा तथा प्राण के विद्यमान होने पर भी कोई भोग सम्भव नहीं होता है । जाग्रतकाल में मन के जाग जाने से ही समस्त क्रियाएँ, ज्ञान तथा भोग सम्पादित होने लग जाते हैं । इससे सिद्ध होता है कि आत्मा अन्तःकरण से भिन्न अविकारी, एक रस, नित्य, ज्ञानानंद, स्वभावी तथा अकर्ता, अभोक्ता ही है । केवल अन्तःकरण उपाधि के धर्म अज्ञानीजन निष्क्रिय आत्म स्वरूप में आरोपित कर अभिमान वश दुःखी होते रहते हैं ।

यदि सोये हुए पुरुष को कोई उसका सम्बन्धीजन आवाज देता है तो वह शीघ्र नहीं उठता है । यदि आत्मा का भोक्तृत्व धर्म होता तो शब्द श्रोत्र से टकराते ही सोये पुरुष को तत्क्षण उठ बैठना था किन्तु शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादिक कोई भी विषय ग्रहण-त्याग आत्मा का धर्म नहीं है । भोगों के द्वार रूप इन्द्रियाँ तथा भोक्ता अन्तःकरण उस वक्त अज्ञान में विलीन होकर बीज रूप से अवस्थित रहते हैं । इसलिए कोई भी भोग सुषुप्ति अवस्था में आत्मा द्वारा सम्भव नहीं है । जाग्रतकाल में इन्द्रिय एवं अन्तःकरण के सहयोग से विषय इच्छा एवं भोग होता रहता है । इस प्रकार इन मन व

इन्द्रिय की क्रिया को देख अज्ञानी जन आत्मा में क्रिया व भोग का आरोपण कर लेते हैं । किन्तु आत्मा का निष्क्रिय, अभोक्तृतव, एकरस, नित्य, ज्ञानानंद स्वभाव सुषुप्ति अवस्था में सहज सिद्ध हो जाता है । यदि कर्ता-भोक्ता पन आत्मा का सहज धर्म होता तो फिर कोई गहरी नींद नहीं ले पाता, न कोई अद्वैत ब्रह्मानंद का अनुभव ही कर पाता । तब न तो कोई गहरी नींद की चाह करता और न कोई गहरी नींद हेतु प्रयत्न ही करता । फिर तो सुषुप्ति में भी जाग्रतकालवत् बाजार, लेन-देन, ग्रहण-त्याग, मान-अपमान, राग-द्वेष, सुख-दुःख, द्वन्द्व, व्यापार बने रहते । किन्तु सुषुप्ति अवस्था में आत्मा के साथ मन का संयोग न रहने तथा विषयों में कर्तृत्व-भोगतृत्व बुद्धि न होने के कारण कोई विशेष भोग क्रिया तथा ज्ञान नहीं होता । धर्मों के रहने से उसका धर्म अवश्य रहता है । जैसे नेत्र जब तक खुले एवं स्वस्थ है तब तक उसका देखना धर्म भी अवश्य रहेगा । जब अन्तःकरण धर्मी ही सुषुप्ति काल में बीज रूप से अज्ञान में लय हो गया तब धर्मी के अभाव में उसका धर्म कर्तृत्व-भोक्तृत्व कौन वहन करेगा अर्थात् कोई नहीं ?

मुर्च्छित अवस्था या मरणावस्था से पूर्व प्राण क्रिया, आत्म शक्ति द्वारा गतागत होने पर भी वह किसी सम्बन्धी को नहीं पहचानता न कुछ स्मरण ही कर पाता है । इससे सिद्ध होता है कि प्राण भी जड़ रूप है । यदि कहें कि आत्मा सर्व व्यापक ज्ञान स्वरूप है तब सोया पुरुष क्यों नहीं जाग पड़ता । तो उसका समाधान यही है कि जब आत्मा सर्व व्यापक समान रूप से समस्त देह में फैला हुआ है तब वह श्रोत्र इन्द्रिय या त्वचा इन्द्रिय के साथ ही विशेष सम्बन्ध वाला क्यों बने ? अर्थात् जिसका समस्त शरीर के साथ ही साधारण सम्बन्ध है । उसका शरीर की एक तर्जनी अङ्गुली के साथ ही विशेष कर सम्बन्ध क्यों होगा ?

इन्द्रियेभ्यः परं मनः इन्द्रियाणि परामनसस्तुपराबुद्धिर्यो -गीता ३/४२

आत्मा इन्द्रियों के भी अतीत उनके विषयों से परे है । यदि मैं

आत्मा कोई एक इन्द्रिय विशेष ही होता तो फिर मेरे द्वारा विभिन्न कर्म, ज्ञान एवं भोग करना सम्भव ही नहीं होता । जैसे आज जिस आम को आँखों ने देखा है उसी आम का मन कैसे चिन्तन कर सकेगा ? त्वचा कैसे स्पर्श कर सकेगी ? जीभ द्वारा कल खायी वस्तु का आज मन कैसे समान या कम ज्यादा रसानुभूति कर सकेगी ? किन्तु मैं आत्मा विषय, इन्द्रिय से अतीत अखंड एकरस, नित्य, द्रष्टा, साक्षी ज्ञान स्वभावी हूँ तभी तो मैं कहता हूँ कि जो मैंने कल आम लाकर घर में रखे थे उसी की आज मुझे सुगंध आ रही है और मेरा मन अभी उसी को खाने की इच्छा कर रहा है । गत वर्ष के खाये आमों की स्मृति हो रही है इस प्रकार की एकत्व प्रतीति यह सिद्ध कर रही है कि मैं आत्मा इन्द्रियों से अतीत एवं उन सबका प्रकाशक हूँ । क्योंकि इस प्रकार की एकता का ज्ञान केवल इन्द्रियों द्वारा तो सम्भव ही नहीं हो सकता है ।

जैसे इन्द्रिय, अन्तःकरण से आत्मा भिन्न है उसी प्रकार शरीर से भी भिन्न है । यदि आत्मा शरीर से भिन्न न हो केवल शरीर रूप ही होता तो वेद प्रतिपादित नरक, स्वर्ग, बैकुन्ठ पुर्नजन्म का कथन व्यर्थ हो जाते । फिर कोई निष्काम या सकाम सत कर्म भी नहीं करते न उनकी प्रवृत्ति ही होती । क्योंकि फिर स्वर्ग, नरक में कौन भोगने जावेगा ? देह तो यहीं नष्ट हो जाती है । अस्तु आत्मा देह से भिन्न है यह मानना पड़ेगा । यदि आत्मा को देह रूप ही मान लेंगे तो फिर दो दोष आ जावेंगे एक तो बिना किये का जन्म होकर दुःख-सुख भोग तथा दूसरा किये कर्म का बिना भोग हुए ही मृत्यु । जो वेद विरुद्ध होने से अमान्य सिद्धान्त ही है । दूसरी बात उत्पन्न बालक में दुग्ध पान की प्रवृत्ति तथा हँसना, रोनादि तथा पशुओं में तैरना, पक्षियों में धोंसला बनाने की कला बिना सिखाये ही पायी जाता है जो देह से पृथक् आत्मा की अमरता सिद्ध करता है ।

देह से आत्मा अलग है इस बात में यह घटना भी प्रमाण रूप है कि आत्मा यदि देह रूप ही होता तो साधारण हाथ के स्पर्श मात्र से वह पुरुष

जग जाना चाहिये था या साधारण आवाज या नाम पुकारने से सुप्त पुरुष जाग उठना चाहिए था । किन्तु विशेष तीव्र आवाज या कठोर स्पर्श, थपकी द्वारा ही वह जागता है । मृदु, मध्यम, कठिन आदि स्पर्श तथा आवाज में भेद फिर न होता । यदि आत्मा शरीर रूप ही होता तो उसका ज्ञान सब अंगों में समान रूप होने के कारण साधारण स्पर्श या आवाज से ही उठ जाता । किन्तु जागने के पूर्व जो निर्जीव-सा निष्चेष्ट पड़ा था वह जाग जाने पर सजीव सचेष्ट विशेष ज्ञान युक्त जीव हो जाता है, इससे यह निश्चय होता है कि आत्मा देह, इन्द्रिय, प्राण तथा अन्तःकरण से भिन्न नित्य, एक रस अखंड सामान्य ज्ञान स्वरूप है । उसमें कोई क्रिया, भोग व ज्ञान विशेष नहीं है । यह विशेष पना तो अन्तःकरण उपाधि का ही उदय अस्त स्वभाव है । इन्द्रिय और अन्तःकरण से जाग्रत व स्वप्न काल में नानाविध कर्म होने से आत्मा का निष्क्रिय, निराकार, असंग, अखंड, एक रस, चैतन्य, ज्ञान, नित्य स्वरूप ढक कर विकारी, क्रियावान, खंड-खंड, संगवान, कर्ता-भोक्ता रूप अज्ञानी को प्रतीत होता रहता है । किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि अन्तःकरण द्वारा विशेष ज्ञान, क्रिया, भोग होने पर भी मैं आत्मा सामान्य ज्ञान, सामान्य क्रिया शक्ति स्वरूप निरुपाधिक आत्मा हूँ । अन्तःकरण और उसकी वृत्तियां ज्ञेय या दृश्य है उनका ज्ञाता व द्रष्टा मैं ही आत्म ब्रह्म हूँ । द्रष्टा कभी दृश्य नहीं हो सकता । ज्ञेय का दृश्य का तो भाव-अभाव होता रहता है किन्तु मुझ ज्ञाता, द्रष्टा, का तो कभी अभाव नहीं होता क्योंकि मैं सत्य नित्य हूँ और विषय अनित्य है । बिना मुझ द्रष्टा, ज्ञाता के अभाव रूप दृश्य तथा ज्ञेय का कौन प्रकाशक हो सकेगा ?

प्रश्न-६९ : कर्मकांड का सेवन करने वाले लोग किस प्रकार मुक्ति लाभ कर सकते हैं ?

उत्तर : संसार में कर्मी तथा ज्ञानी दो प्रकार के साधक देखे जाते हैं । धन, पुत्र, स्त्री आदि इस लोक की कामना या स्वर्गादि पर लोक की कामना से यज्ञादि स्थूल कर्मों या ध्यानादि मानसिक सूक्ष्म कर्मों का अनुष्ठान करने

वाले अज्ञानी निकृष्ठ श्रेणी के ही साधक कहे जाते हैं । सर्वत्र ब्रह्म दर्शन ब्रह्म भावना किये बिना कोई भी श्रेय(मुक्ति) की प्राप्ति नहीं कर सकता । इसीलिए मुमुक्ष जन लोक तथा परलोक की कामना से रहित निष्काम भावना द्वारा कर्म का अनुष्ठान कर अपने मल दोष की तथा ध्यानादि द्वारा विक्षेप दोष की निवृत्ति करते हैं । उत्तम साधक कर्मों का अनुष्ठान ईश्वर प्रीत्यर्थ ही केवल करते हैं तथा कर्म यज्ञ में ब्रह्म दर्शन का अभ्यास बढ़ाते हैं ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

- गीता ४/२४

उन यज्ञ के करने वाले उत्तम साधक के मन में इस प्रकार की भावना होती है कि अर्पण ब्रह्म है याने श्त्रुवा ब्रह्म है । हवि अर्थात हवन करने योग्य द्रव्य जौं, तिल, काष्ट, घृतादि ब्रह्म है और ब्रह्म रूप अग्नि में ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा जो हवन किया गया है वह भी ब्रह्म ही है । इस प्रकार की भावना युक्त ब्रह्म रूप यज्ञ का फल भी ब्रह्म है याने मुक्ति ही है । इस प्रकार की भावना युक्त कोई भी कर्म, कर्ता तथा उसका फल भिन्न न होने से ब्रह्म दर्शन रूप ज्ञान यज्ञ ही माना जाता है जिसका फल मुक्ति होता है । इस प्रकार भावना मय यज्ञ करके भी यज्ञ में या अन्य क्रिया में सर्वदा ब्रह्म की भावना करके भी कर्मकान्डी कृतार्थ हो सकते हैं ।

एक ब्रह्म शक्ति ही दिशा, वायू, सूर्य अग्नि आदि अधिदेव वाणी, शब्द, स्पर्श, रूप, आदि अधिभूत विषय तथा श्रोत्र, त्वचा, चक्षु आदि अध्यात्म त्रिपुटी रूप में प्रकट हुई है । इस प्रकार भावना करने वाला कर्मकाण्डी भी सर्व वस्तु क्रिया व्यवहार मात्र में ब्रह्म का दर्शन कर अपने आत्मा में ही ब्रह्म की भावना हो जाने से अविद्या का नाश होकर मृत्यु को जीत अमृत्व लाभ कर सकते हैं । काल में ब्रह्म का दर्शन करने से काल का बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाता है जड़-चेतन की गांठ खुल जाती है ।

श्रुति देह, इन्द्रिय या अन्तःकरण के नाश करने का उपदेश नहीं करती, किन्तु वह सिखाती है कि देह, प्राण, इन्द्रिय, विषय तथा अन्तःकरण सब एक मात्र ब्रह्म शक्ति के ही विकास मात्र है ।

विषयों में आत्म अभिमान करने के बदले ब्रह्मात्म भाव दृढ़ करने से बन्धन से मुक्ति हो जाती है । अस्तु समस्त नाम, रूप, क्रिया, वस्तु, व्यवहार में ब्रह्म दर्शन करना चाहिये ।

प्रश्न-७० : संसार के प्रत्येक पदार्थ में ब्रह्म दर्शन करते रहने की कौन सी प्रणाली है ?

उत्तर : बिना ग्राहक से ग्राह्य पदार्थ का पृथक अस्तित्त्व नहीं है । यदि चक्षु ग्राहक(इन्द्रिय) न हो तो ग्राह्य रूप का कोई अस्तित्त्व ही नहीं । अतः ग्राह्य विषय अपने ग्रहक इन्द्रियों से भिन्न नहीं है । इन्द्रियों के बिना विषयों की स्वाधीन सत्ता नहीं रहती । जैसे स्वर्ण के बिना अलंकारों का अस्तित्त्व नहीं रह पाता, उसी प्रकार इन्द्रियों के बिना विषय कुछ भी नहीं रहते । विषय तथा इन्द्रियाँ मन के ही अन्तर्गत है, मन के बिना श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राणादि इन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादिक विषयों की सत्ता सिद्ध नहीं होती । इसी प्रकार यह मन भी निश्चयात्मिक बुद्धि के बिना कोई भी क्रिया इन्द्रियों द्वारा नहीं करा सकता, इसलिए बुद्धि से भिन्न मन की पृथक् सत्ता नहीं है । और यह बुद्धि या विज्ञान शक्ति सर्व आश्रय,सर्व अधिष्ठान प्रज्ञान घन आत्मा के ही अन्तर्गत है । इसी प्रकार वाक्, पाणि,पाद,उपस्थ, तथा गुदादि कर्मेन्द्रियों की विशेष प्रकार की व्यक्तिगत् क्रियाएँ एक मात्र प्राण शक्ति के अन्तर्गत है । प्राण शक्ति के बिना वचन, लेना-देना, चलना, मूत्र, मलादि त्याग क्रियाएँ नहीं हो सकती और यह प्राण शक्ति भी उसी सर्व के आश्रय प्रज्ञान घन आत्मा के ही अन्तर्गत है । इस प्रकार जीव की विशेष-विशेष ज्ञान के द्वार भूत विज्ञान शक्ति एवं जीव की विशेष-विशेष क्रियाओं के द्वार भूत प्राण शक्ति, ये दोनों एक अभिन्न शक्ति

ही है । क्योंकि शक्ति-शक्ति दो नहीं होती । रूप का प्रकाशक ज्ञान तथा श्रोत्र का प्रकाशक ज्ञान दो ज्ञान नहीं होते बल्कि एक ब्रह्म शक्ति के ही दो रूप जानना चाहिये, यही सर्वात्म दर्शन प्रणाली है ।

प्रश्न-७१ : ब्रह्म विद्या का क्या स्वरूप है तथा उसका किस प्रकार मनन चिन्तन होता है ?

उत्तर : जिस प्रकार लवण की डली जल का ही ठोस विकार मात्र है, जल का ही रूपान्तर है । इस लवण के टुकड़े को जल में छोड़ देने से वह अपने अधिष्ठान जल स्वरूप में पुनः विलीन हो जावेगा । जल ही जमकर ठोस लवणाकार के रूप में परिणत हुआ था, वह ठोसता अपने उपादान जल के संसर्ग से दूर कर, जल में ओत-प्रोत भाव को प्राप्त हो गया और उसका पृथक्त्व भाव समाप्त हो गया । अब जल की प्रत्येक बूंद लवण युक्त तो अनुभव में आवेगी किन्तु लवण भिन्न रूप से प्रतीत नहीं होगा । वैसे ही, हे आतमन् ! तुम भी उसी ब्रह्म चैतन्य से उत्थित हुए हो । अविद्या रूप उपाधि के संसर्गवश आज तुम क्षुधित, पिपासित, जरा-मरण धर्म विशिष्ट और सुखी-दुःखी रूप मान कर, लवण खण्ड की तरह स्थूल भाव धारण कर संसार के विभिन्न कार्यों में नियुक्त से प्रतीत हो रहे हो । किन्तु कार्य कारणात्मक उपाधि के हटने से तुम भी लवण की भांति अपने करणी भूत महासागर तुल्य अजर, अमर,अभय, अपार, अनन्त, शुद्ध प्रज्ञान घन, ब्रह्म चैतन्य में प्रविष्ट होकर अपने ब्रह्मात्म स्वरूप को प्राप्त हो सकते हो । उस समय अविद्या जनित् भेद भ्रांति नहीं रहेगी । जैसे जल पात्र के हटाने से या दर्पण के हटालेने पर प्रतिविम्ब रूप सूर्य या व्यक्ति अपने स्वरूप विम्ब को ही प्राप्त हो जाते हैं वैसे ही अविद्या के ध्वंस होने पर जीव ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है । फिर उसे मृत्यु के वशीभूत नहीं होना पड़ता । मुक्ति पर्यन्त अन्तःकरण बना रहता है उसके संस्कार बदल जाते हैं ब्रह्म से भिन्न पदार्थ की सत्ता अन्तःकरण से उठ जाती है । जैसे लवण का रूपान्तर जल में उसका रूप रहित केवल स्वाद बना रहता है । इसी प्रकार जीव का ब्रह्म चैतन्य के रूप में लीन होना

सिद्ध होता है । सर्वथा नाश या अभाव नहीं होता । (शंकराचार्य मत से)

हे आत्मन् ! यथार्थ पक्ष में देखने से मैं देहवान्, नाम, रूप, जाति, आश्रम, सम्बन्ध, जन्म-मरण वाला सुखी-दुःखी हूँ । गृही-त्यागी, रोगी-निरोगी, बाल-युवा-वृद्ध, स्त्री-पुरुष आदि भिन्न-भिन्न ज्ञान सब मिथ्या प्रतीत होते हैं । आचार्य द्वारा ब्रह्म विद्या के उपदेश से आत्म ज्ञान होने पर उपरोक्त प्रकार का देहाभिमान होना कदापि सम्भव नहीं हो सकता । इसी अवस्था को ब्राह्मी स्थिति या परमार्थ दर्शन कहते हैं । वास्तव में तो ब्रह्म अद्वैत है । ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है । अविद्या का प्रताप ही ऐसा है कि न हुए जीव, जगत् भेद को ब्रह्म से भिन्न जादुगर द्वारा उत्पन्न किये पदार्थों की तरह नाना नाम रूपों में भासित करा देता है । आचार्य द्वारा शुद्ध आत्म तत्त्व के श्रवण,मनन तथा निदिध्यासन द्वारा हुए सम्यक् बोध से यह अविद्या का नाश होने पर यह भेद बुद्धि सदा के लिए चली जाती है । फिर कर्ता, क्रिया तथा विषय फल की भिन्नता का बोध नहीं रहता, तब केवल एक अखंड ब्रह्म सत्ता ही अपने सहित सर्वत्र प्रतीत होती है । सभी विशेष-विशेष ज्ञान और क्रियाओं में उसी एक महाज्ञान तथा महाशक्ति रूप ब्रह्म का अनुभव होता रहता है फिर उसी की दृष्टि में ज्ञाता ज्ञेय तथा द्रष्टा दृश्य दोनों एक अखंड आत्मा ही भासित होने लगते हैं । जो तत्त्वदर्शी गुरु से अद्वितीय ब्रह्म उपदेश श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते हैं उनकी बुद्धि में ज्ञाता से पृथक् ज्ञेय तथा द्रष्टा से पृथक् दृश्य की सता ही नहीं टिक पाती है । आत्मा से भिन्न किसी की स्वतन्त्र क्रिया व सत्ता नहीं है । ज्ञाता कभी क्या ज्ञेय हो सकता है ? द्रष्टा क्या कभी दृश्य हो सकता है ? भला जो सबका एकमात्र द्रष्टा है उसे अन्य द्रष्टा के अभाव में किसके द्वारा देखा जावेगा ? जो सबका ज्ञाता है उसे किस अन्य के द्वारा जाना जावे ? अविद्या के नाश होने पर भेद बुद्धि चली जाती है फिर सर्वत्र मैं आत्मा की ही सत्ता गोचर होती है ।

प्रश्न-७२ : एकमात्र ब्रह्मज्ञान द्वारा ही जब मोक्ष लाभ होता है तब वेद में यज्ञादि कर्मकान्ड को स्थान क्यों दिया गया ?

उत्तर : जो उत्तम साधक है मल तथा विक्षेप दोषों से रहित है उनके लिए द्रव्यात्मक यज्ञ करने का विधान नहीं है उनको तो भावनात्मक ब्रह्म विचार रूप यज्ञ करने की ही आज्ञा है "तस्य कार्यं न विद्यते" । आत्म ज्ञानी हेतु कोई भी कर्म आवश्यक नहीं है (गीता ३/१७) इसलिए ज्ञानी लोग द्रव्यात्मक यज्ञ के स्थान में भावनात्मक यज्ञ करते रहते हैं । देवताओं की उपासना वही अज्ञानी लोग करते हैं जिनको सर्वत्र ब्रह्म दर्शन नहीं होते । ब्रह्म ज्ञान न जानने के कारण ही वे अज्ञानी जन भोगासक्त हुए स्वर्ग तथा देवताओं के भोगों की आशा करके धन के द्वारा योग, यज्ञादिक का अनुष्ठान किया करते हैं ।

संसारी मनुष्य अज्ञान के प्रभाव से सर्वदा ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादि विषय के मोह में आसक्त रहता है । अविद्या का प्रभाव ही ऐसा है कि वह जीव को बहिर्मुख बनाये रखती है । इसलिए जो एक आत्मा सर्वत्र व्यापक रूप से विद्यमान है, अविद्या के कारण उसे वह नहीं देख पाता । सच्चिदानन्द आत्म स्वरूप के अज्ञानता के कारण जीव अपने में दुःख मानकर विषयों में सुख बुद्धि की कल्पना कर रात-दिन उन्हें पाने हेतु प्रयत्नशील रहता है । ऐसे विषय में आसक्त जीवों को श्रुति प्रतिपादित सकाम कर्म करना अच्छा लगता है ।

विषय मदमत्त पुरुष के चित्त शुद्धि तथा ब्रह्म दर्शन का अधिकारी बनाने हेतु वेद में कर्मकान्ड के प्रतिपादक अस्सी हजार मंत्रों की व्यवस्था हुई है ।

नश्वर शरीर एवं भोग को ही सत्य रूप जानने वाले अज्ञानी जनों के मन में इससे भिन्न अखंडानन्द की जिज्ञासा उदय कराने हेतु विषय भोगों को भोगते हुए ही परलोकादि की बात समझा देने के उद्देश्य से यज्ञादि सकाम कर्म का विधान है । इन्द्रिय तृप्ति ही जीवन का मुख्य लक्ष्य जिनकी दृष्टि में है, ऐसे लोगों के लिये इस लोक के क्षणिक भोगों को छोड़कर देव लोक के

ऐश्वर्य युक्त भोगों की व्याख्याकर उनका मन उस ओर आकर्षित किया जाता है । इस प्रकार के उपदेश प्रणाली का प्रयोजन यही है कि धीरे-धीरे उन विषयी लोगों को ब्रह्मानन्द का अधिकारी बना दिया जावे जिससे उनके चित्त से विषय वासना हट देवता तथा ईश्वर के प्रति श्रद्धा जाग्रत होने लगे । इस प्रकार उन्हें इस देह के सुख से लेकर ब्रह्मादिक लोकों के सुख से वैराग्य करा ब्रह्म ज्ञान का उपदेश दिया जाता है । उस समय देवता के स्थान पर आत्म ब्रह्म के प्रति श्रद्धा तथा स्वर्ग सुख के स्थान पर उससे श्रेष्ठ आत्म सुख, ब्रह्मानन्द के प्रति मन आकर्षित किया जाता है । सीधा ब्रह्म ज्ञान विषयी लोगों को सुना देने से वे श्रद्धा नहीं कर सकेंगे और उन्हें विषयों से वैराग्य की बात सुनना भी प्रीति कर नहीं लगेगी । इसी कारण से ऐसे विषयासक्त अज्ञानी जीवों को ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी बनाने हेतु वेद में पहले सकाम यज्ञादि कर्मकान्ड की व्यवस्था उपदिष्ट हुई है । किन्तु ब्रह्म ज्ञान के अभिलाषी उत्तम साधक को तो इन द्रव्यमय यज्ञ को छोड़ भावानात्मक यज्ञ ही करना चाहिये ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

- गीता ४/३३

प्रश्न-७३ : भावनात्मक यज्ञ का क्या स्वरूप है व कैसे किया जाता है ?

उत्तर : विषयों में ब्रह्म की भावना करते रहना ही भावनात्मक यज्ञ कहलाता है । इस प्रकार की भावना से सांसारिक द्रव्यमय यज्ञके स्थान में ब्रह्म भावनात्मक यज्ञ स्थापित होगा । मनुष्य का अन्तःकरण ही सब प्रवृत्ति और कामना का आधार है । समस्त इन्द्रियाँ इस अन्तःकरण के ही आज्ञा में रहकर निज-निज क्रिया करती है । मन ही इन्द्रिय राज्य का राजा है, मन ही चक्षु आदि का कुटुम्बिक स्वामी प्रभु है तथा वाक्य(वचन) को ही मन की

पत्नी कह सकते हैं । क्योंकि मन ही कर्ण रूप द्वार से वाक्य ग्रहण करता रहता है, वचन मन के अत्यन्त अनुगत है । इससे वाक्य ही मन की स्त्री है और मन तथा वाक्य रूप पति-पत्नि के सहयोग से ही प्राण रूप पुत्र की उत्पत्ति होती है ।

यह लौकिक तथा पारलौकिक भेद से सम्पत्ति दो प्रकार की होती है । धन, पुत्र, यश, मानादि के साधन से सम्पन्न होना लौकिक सम्पत्ति मानी जाती है तथा याग, यज्ञादि परलोकार्थ कर्म करना एवं सद्गुरु से वेदान्त श्रवण मनन करना दैवी सम्पदा है ।

भावनात्मक यज्ञ करने वालों के पक्ष में उनका चक्षु ही इस लोक का धन है; क्योंकि वह चक्षु के द्वारा समस्त लौकिक पदार्थों में ब्रह्म दर्शन भावनात्मक रूप से करता है । तथा कान के द्वारा ब्रह्मविद्या श्रवण कर ब्रह्माभ्यास करता है । इस भांति मन, वाक्य, प्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा यह शरीर इन पंच पदार्थों के द्वारा, ब्रह्मज्ञानार्थी उत्तम साधक, ब्रह्म दर्शनात्मक या भावनात्मक यज्ञ सम्पादन करते हैं । वे स्वर्गादि के उद्देश्य से देवताओं की पूजा एवं द्रव्यात्मक यज्ञ नहीं करते । प्रत्येक क्रिया तथा दृश्यमान जगत् को अपने सहित ब्रह्मरूप बुद्धि से निश्चय करते रहना, देखते रहना ही भावनात्मक यज्ञ है ।

इस प्रकार चक्षु व श्रोत्र रूप सम्पत्ति द्वारा ब्रह्म प्राप्ति के उद्देश्य से, भावनात्मक यज्ञ का सम्पादन किया करे । सतगुरु के उपदेश सुनकर चक्षु के द्वारा देवता, इन्द्रिय तथा विषय, आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक पदार्थों को ब्रह्म शक्ति के विकास रूप से या परिचायक रूप से दर्शन करना सीखें । यही परमार्थ दर्शी का भावनात्मक यज्ञ है ।

इन्द्रिय वर्ग में जो भी क्रियाशीलता प्रतीत होती है, वह सब प्राण शक्ति द्वारा ही उपलब्ध होती है, क्योंकि प्राण शक्ति ही सब क्रियाओं का मूल आधार है । संसार नाम, रूप क्रिया से भिन्न कुछ नहीं है और यह एक

प्राण शक्ति ही नाम रूपों में फैली हुई क्रिया कर रही है । यदि प्राण शक्ति न हो तो जगत् या शरीर सूख जावे, इसलिए ज्ञानी की दृष्टि में यह विश्व, प्राण शक्तिमय है । ब्रह्म की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से प्राण शक्ति ही नाम, रूप और क्रिया के आकार में परिणित हो रही है । यह प्राण शक्ति ब्रह्म से स्वतन्त्र या स्वाधीन सत्ता नहीं किन्तु ब्रह्म ही है । जैसे अलंकार स्वर्ण रूप ही है । इस तरह जो साधक अध्यात्म(इन्द्रिय), अधिदेव(देवता) तथा अधिभूत(विषय) रूप त्रिपुटी को ब्रह्मरूप या प्राणरूप देखता है उसे सर्वत्र ब्रह्म ही भासता है । यही देवताओं की जय तथा असुरों की पराजय है ।

संसार नाम, रूप तथा क्रियात्मक होने से वाणी, चक्षु तथा प्राण से भिन्न नहीं है । क्योंकि वाणी द्वारा नाम उच्चारण, श्रोत्र द्वारा श्रवण तथा चक्षु द्वारा दर्शन होता है । शरीर या जगत् हमारी प्राण शक्ति का ही विकास है, अस्तु यह जगत् हमारे श्रोत्र,चक्षु,वाक् से भिन्न नहीं है और इन श्रोत्र, चक्षु, वाक् इन्द्रियों का देवता सूर्य, दिशा, अग्नि प्राण रूप वायु से भिन्न नहीं है । वायु तथा प्राण सजातीय होने से अभिन्न है । प्राण शक्ति ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति करा रही है इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्म भावनात्मक यज्ञ करें ।

हे आत्मन् ! जाग्रत काल में जीव जब प्रतिक्षण सब स्थानों, सब पदार्थों में ब्रह्म शक्ति और ब्रह्मानंद का ही अनुभव करने लगता है तो धीरे-धीरे उसका ब्रह्मभाव दृढ़ हो जाने से स्वप्न में भी उसे ब्रह्म भावना का ही दर्शन, अनुभव, निश्चय, मननादि होने लग जाता है, इसी को विद्या या ज्ञान की परिपक्व अवस्था कहते हैं ।

विषयों को इन्द्रियों से, अन्तःकरण को ब्रह्म से भिन्न देखने से ही विषय कामना जाग्रत होती है और जीव उस पदार्थ हेतु परिश्रम करता रहता है । यदि विषय दृष्टि के स्थान पर सर्वत्र ब्रह्म दृष्टि की जाय तो फिर मन में ब्रह्म ही रह जावेगा एवं विषय कामना हट जावेगी । इसी का नाम सर्वात्मभाव है । आत्मसुखार्थ किसी अन्य पदार्थ की फिर कामना जाग्रत नहीं होगी ।

उस समय ब्रह्म दर्शन ही सर्वत्र होने से ब्रह्मानंद का ही लाभ होता रहेगा । विद्या द्वारा अविद्या काम्य कर्म की गांठ खुल जाती है । जैसे सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों के विलीन होने पर उस समय जीवात्मा को निज सहज सत्य स्वरूप की प्राप्ति रहती है एवं बाहर के किसी भी प्रकार के जाग्रत स्वप्न के भय,सुख,दुःख, मान, अपमान, हँसी, लाभ-हानि, शोक-मोहादि का स्मरण नहीं होता है । जैसे प्रियतमा कामिनी के द्वारा गाढ़ आलि‘न होने पर स्त्री, पुरुष भीतर बाहर की सुध-बुध भूलकर आलि‘न सुख में खो जाते हैं । उस समय उन्हें अपने भीतर के किसी भी प्रकार के सुख-दुःख या चिन्ता की स्मृति नहीं रहती है, केवल मात्र आलि‘न आनन्द का ही अनुभव रहता है । या उस अवस्था से पूर्व केवल स्त्री को पुरुष या पुरुष को स्त्री के अलावा अन्य कुछ भी चिन्ता स्मृति का बोध नहीं रहता । (बृहदारण्यकोपनिषद, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, मंत्र २१) उसी भांति जीव भी देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण के संसर्ग में अपने मुख्यानंद स्वरूप से निज को भिन्न मानकर अपने को दुःखी, सुखी, कामी, क्रोधी, दीन,रोगी, बाल, यूवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष आदि रूप से अनुभव करता है किन्तु सुषुप्ति अवस्था में जब परम आत्म चैतन्य के द्वारा गाढ़ आलि‘न प्राप्त होता है, तब जीव को ब्रह्मात्मा के भिन्नता का द्वैत ज्ञान नहीं रहता है । जीव ब्रह्मानन्द में खो जाता है यही जीव को स्वस्वरूप की प्राप्ति है । अतः सर्वत्र ब्रह्मभावना करें ।

प्रश्न-७४ : नाम रूपात्मक मिथ्या दृश्य जगत् में ब्रह्म की सत्ता कैसे जाने ?

उत्तर : जैसे ‘‘घट है’’ इस ‘‘घट’’ तथा ‘‘है’’ दो बुद्धियों में घट विषय की बुद्धि तो घट के न होने पर या अन्य वस्तु के प्रतीत होने पर नष्ट हो जाती है किन्तु सत् बुद्धि ‘‘है’’ कभी भी नष्ट नहीं होती है । अर्थात् घट न रहने पर भी अन्य कुछ है कि बुद्धि रह जाती है । अतः घट, पट, मठ आदि विषयाकार में जो-जो विषय पदार्थ है वह तो असत् है क्योंकि उनका व्यभिचार होता है अर्थात् कभी रहते हैं, कभी नहीं भी रहते हैं किन्तु सत्

बुद्धि ''है'' का कभी अभाव नहीं होता । पदार्थ के रहने पर भी ''है'' तथा नहीं रहने पर भी नहीं ''है'' के रूप में । सत् होने से दोनों अवस्थाओं में अस्ति अर्थात् ''है'' बुद्धि का अभाव नहीं होता । घट है, पट है, मठ है या नहीं है सभी अवस्था में ''है'' रूप से अस्ति रूप से विद्यमान ही रहती है ।

किसी भी पदार्थ के ज्ञान होने के पहले ही 'सत्' की, है पने की, प्रतीति होती है । जब वस्तु का सामान्य सत् अंश प्रथम प्रतीत होता है तब जाकर वस्तु के विशेष रूप का भान होता है । इस प्रकार सर्वत्र सत् 'है'' है, ऐसी प्रतीति की एक रूपता दिखाई पड़ती है । घट, पट इत्यादि वस्तु नष्ट होने से भी 'है' रूप सत् बुद्धि का लोप नहीं होता है । जगत् के विषय में सत् बुद्धि का उदय उस अधिष्ठान रूप एक सत् वस्तु को आश्रय करके ही होता है । विशेष-विशेष वस्तु घट, पट, हाथी, घोड़ा मनुष्य आदि का भाव तथा अभाव होता रहता है किन्तु घट नष्ट होने से भी घट नहीं ''है'' या पट ''है'' व पट नष्ट होन से या अदृश्य होने पर भी मठ है इस प्रकार 'है बुद्धि', 'सद् बुद्धि', सर्व काल, सर्व देश, सर्व वस्तु में बनी ही रहती है ।

इसलिए वस्तुएँ भिन्न-भिन्न होने से भी उसके मूल में अनुगत जो 'सत्' है वह सदा ही एक रूप में रहता है अर्थात् 'सत्''सत्' ''है, है'' ऐसी समान प्रतीति सर्वत्र होती रहती है । पुनः जब सभी दृश्यों का समाधि या निद्रा में अभाव हो जाता है, तब भी कुछ नहीं होने पर ''मैं हूँ'' इस बोध का लोप नहीं होता है । अर्थात् मैं आत्मा परमार्थिक सद्वस्तु स्वयं प्रकाश, नित्य, अचल, सनातन हूँ । वस्तु के नाम, रूप, क्रिया असत् है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति तथा विनाश होता है । किन्तु सभी वस्तु में एक सच्चिदानंद सत्ता व्याप्त(अनुस्यूत) है; इसलिए वह सत् है । वह प्रकाशित हो रहा है इसलिए वह चित् है । वह किसी न किसी को प्रिय है इसलिए आनन्द रूप है । इस प्रकार सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में अनुभव होता है कि उनमें अस्ति, भांति तथा प्रियत्व का कभी अभाव नहीं होता । नाम, रूप भले कुछ भी क्यों न रहे किन्तु ''है'' रूप ब्रह्मत्व उनमें समान रूप से सच्चिदानंद रूप से

विद्यमान ही रहता है । उसका कभी व्यभिचार नहीं होता । इसी को सत् या परमार्थ सत्ता या परमात्मा कहा जाता है । अस्तु जो तीनों काल में एक रूप में रहता है, उसे ही परमार्थ रूप से सत् वस्तु कहा जाता है और जो किसी एक देश में, एक काल में,एक वस्तु में परिच्छिन्न होने से असत् है । किन्तु असत् कहने का मतलब खरगोश के सींग की तरह या ब्नध्या के पुत्र की तरह जगत् की कोई व्यवहारिक सत्ता ही नहीं है ऐसा अर्थ न समझें । परमार्थिक सत्ता जगत् की नहीं है किन्तु व्यवहारिक सत्ता है, इसलिए जगत् को असत् या मिथ्या कहा जाता है ।

रस्सी में सर्प की तरह समस्त जगत् आत्मा में कल्पित है । रस्सी ज्ञान होने से सर्प भ्रम चला जाता है उसी प्रकार आत्म ज्ञान होने से जगत् भ्रांति नष्ट हो जाती है । क्योंकि जगत् की पारमार्थिक सत्ता नहीं है, केवल अज्ञान के कारण दिखाई पड़ता है । लेकिन उस अध्यस्त वस्तु का यथार्थ स्वरूप अधिष्ठान के रूप में ज्ञात होते ही उस अध्यस्त भ्रान्ति का लोप हो जाता है सत्ता हीन हो जाती है । ज्ञान भ्रांति का नाशक है प्रतीति का नहीं ।

प्रश्न-७५ : मैं(आत्मा) किस प्रमाण से जाना जाता है ?

उत्तर : दृश्य जगत् के किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान (प्रमा) में प्रमाता अन्तःकरण उपहित चैतन्य, करण(इन्द्रिय) अर्थात् प्रमाण तथा जिस विषय सम्बन्ध से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है उसे प्रमेय कहते हैं । साधारणतः प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शास्त्र(आगम) ये तीन मुख्य प्रमाण माने जाते हैं, किन्तु मैं (आत्मतत्त्व) इन प्रमाणों से जानने का विषय नहीं है; क्योंकि मैं (आत्मा)स्वतःसिद्ध स्वयं प्रकाश है । प्रमाता रूप आत्मा (मैं) के होने पर ही किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान(प्रमा) के इच्छुक व्यक्ति को प्रमाण के द्वारा विषय सम्बन्ध में खोज होती है । समस्त ज्ञान के आश्रय रूप में आत्मा (मैं) की ही सिद्धि होती है । ''मैं'' के ज्ञान के अभाव में कभी भी 'मेरा' का ज्ञान नहीं हो सकता । 'मेरा' जानने से पूर्व 'मैं' का बोध होना जरूरी है । मैं

नहीं हूँ ऐसा किसी को संशय भ्रम अथवा विपयर्य नहीं होता । अतः सिद्ध होता है कि आत्मा(मैं) के विषय में यथार्थ ज्ञान है । जगत् के प्रत्येक पदार्थ के ज्ञान में ''मैं हूँ'' तथा मुझे घट, पट, मठादि रूपों में दृश्य का ज्ञान हो रहा है, ऐसा बोध स्वतः ही होता रहता है । अतः अपने सम्बन्ध में किसी को भी संशय नहीं होता । आज तक अनादि से लोगों ने जगत्, माया, अविद्या, ईश्वर लोक के सम्बन्ध में तो प्रश्न किये, सन्देह किया कि यह है या नहीं, किन्तु किसी ने मैं हूँ या नहीं ऐसी शंका नहीं की, क्योंकि ऐसी शंका उठाने में भी मैं तो प्रथम सिद्ध ही हूँ अन्यथा शंका भी कैसे उठ पावेगी ।

आत्मा(मैं)इस प्रकार का हूँ इस प्रकार का अपने बारे में पहले ज्ञान यदि न हो तो किसी दूसरी वस्तु के बारे में उचित निर्णय ही नहीं किया जा सकेगा । मनुष्यों के समूह में से सम्बन्धी जनों का निर्णय लेने के पूर्व मुझे यह ज्ञात होना आवश्यक है कि मैं उनका क्या होता हूँ । फिर माता, पिता, बहन, भाई को मैं पहचान सकता हूँ एवं उचित व्यवहार कर सकता हूँ, अन्यथा कोई सम्यक् व्यवहार सम्भव नहीं होगा । ''मैं'' के सम्यक् ज्ञान हुए बिना 'मेरा' का ज्ञान एवं व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता। आत्मा(मैं) किसी भी व्यक्ति को अज्ञात नहीं है ।

आत्म तत्त्व के निर्णय के सम्बन्ध में वेद अन्तिम प्रमाण माना गया है । उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि गुरु एवं शास्त्र अज्ञात आत्म तत्त्व को साधन द्वारा दिलाने या दिखाने वाला है । ऐसा भी मतलब नहीं है कि मैं पहले अज्ञात था और फिर शास्त्र प्रमाण द्वारा मेरे होने की सिद्धि हुई । शास्त्र तो केवल आत्मा के प्रति आरोपित देह, प्राण, इन्द्रिय तथा अन्तः करण मिथ्या का निशेध कर आत्मा के स्वतःसिद्ध, स्वतः प्रमाण शुद्ध स्वरूप का ही प्रतिपादन करते हैं । मैं के अलावा शास्त्र, गुरु, जगत्, जगदीश, माया सब ही कल्पित है ! कल्पित भ्रम की निवृत्ति हेतु ही कल्पित शास्त्र, गुरु तथा ज्ञान की जरूरत है । शास्त्र से भ्रम मात्र दूर किया जाता है, मैं(आत्मा) की खोज एवं प्राप्ति नहीं होती है । शास्त्र केवल आत्मा(मैं) में कल्पित भ्रम को

दूर करता है, किन्तु आत्मा को प्रमाणित नहीं करता । श्रुति कहती है ।

यत्साक्षदपरोक्ष ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः इति

जो वस्तु तत्त्व मैं(आत्मा) दूसरे किसी प्रमाण के बिना ही प्रकाशित होती है तथा जो वस्तु सभी के भीतर में विद्यमान है वही ब्रह्म है । ‘‘विज्ञातारमरे केन विजानीयात’’ जो सभी वस्तु का विज्ञाता(जानने वाला) है, उसे कैसे जानोगे ?

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमाग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

- कठ.उप. २-५, १५

इस सत्य वस्तु मैं(आत्मा) को सूर्य, चन्द्र तथा चमकते तारे या विद्युत् का प्रकाश प्रकाशित नहीं करता, फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या । स्वयं प्रकाश इस ज्योतिर्मय के प्रकाश से ही ये समस्त पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं । तथा इसी के शासन में रहकर समस्त प्रकृति अपना-अपना ठीक कार्य कर रहे हैं । इस आत्म चैतन्य के प्रकाश द्वारा ही यह सम्पूर्ण जगत् उद्भासित हो रहा है ।

इस प्रकार स्व प्रकाश सर्व प्रकाशक चैतन्य आत्मा की अपनी सत्ता के प्रकाश के लिए अपने ही द्वारा भास्य(प्रकाशित होने वाले) इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शास्त्र आदि की आवश्यकता नहीं है । आत्मा(मैं) स्वतः सिद्ध, स्वतः प्रमाण, स्वयं प्रकाश है इसकी सिद्धि के लिए किसी दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है ।

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमीतिस्तथा ।
यत्प्रसादान्सिद्धयन्तो तत सिद्धौ किमपेक्षते ।।

जिस प्रकार कल्पित अज्ञान की एवं उस अज्ञान के परिणाम स्वरूप इस मिथ्या जगत् की निवृत्ति के लिए मिथ्या वृत्ति ज्ञान की अपेक्षा है और इस वृत्ति ज्ञान के उत्पन्न करने के लिए ही शास्त्र की सार्थकता है । अज्ञान नष्ट कर यह वृति ज्ञान भी नष्ट हो जाता है;क्योंकि जो कल्पित है वही दूसरे कल्पित का विरोधी या नाशक हो सकता है, शास्त्र चिन्तन, मननादि की कर्तव्यता तब तक ही रहती है जब तक कि निरूपाधिक मैं(आत्मा) को नहीं जाना है अहं रूप से जानने के बाद तो वेद भी व्यर्थ हो जाते हैं । ''**अत्र वेदाः अवेदाः भवति**'' बृह.उप.४.३.२२ ।

प्रश्न-७६ : यथार्थ ज्ञान(प्रमा) किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस विषय में जिज्ञासु को संशय, विपर्यय या व्यतिरेक प्रमा इन तीनों में से कोई भी एक दोष नहीं होता उसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है । किसी वस्तु के होने या नहीं होने का जो विचार होता है उसे संशय कहते हैं । किसी वस्तु का अन्य रूप से देखने, मानने या जानने को ही भ्रम या विपर्यय कहते हैं, याने उल्टा जानना विपर्यय है । तथा वस्तु के होते हुए प्रत्यक्ष रहने पर भी नहीं होने का जो निश्चय होता है उसे व्यतिरेक प्रमा (ज्ञान) कहते हैं । इन तीनों में से एक भी दोष जहाँ नहीं होते हैं वहीं पर प्रमा ज्ञान(यथार्थ ज्ञान) वस्तु के सम्बन्ध में होता है । संशय, विपर्यय तथा व्यतिरेक प्रमा दोषों में से एक दोष भी जहाँ हो वहाँ पर मिथ्या ज्ञान ही होगा ।

हे आत्मन ! अपने सम्बन्ध में सभी को प्रमा ज्ञान (यथार्थ ज्ञान)ही होता है, मिथ्या ज्ञान किसी को भी नहीं होता । जैसे (१) मैं हूँ या नहीं हूँ ? ऐसा संशय ज्ञान किसी को अपने प्रति नहीं होता, (२) मैं मैं नहीं हूँ दूसरा हूँ ऐसा विपर्यय ज्ञान भी किसी को नहीं होता है तथा(३) मैं नहीं हूँ ऐसी व्यतिरेक प्रमा भी किसी को कभी नहीं होता है । इससे प्रमाणित हो जाता है कि सबको सभी समय में आत्मा के सम्बन्ध में प्रमा याने यथार्थ ज्ञान

विद्यमान ही रहता है । अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह स्व प्रकाश, सत् स्वरूप धर्मी के प्रकाश के बिना जब प्रमाण या अप्रमाण कुछ भी प्रकाशित नहीं हो सकता है तब आत्मा के होने में मैं हूँ कि नहीं ऐसा भ्रम किसी को नहीं हो सकता अस्तु मैं हूँ यह ज्ञान यथार्थ प्रमा है ।

आत्मा समस्त भ्रम का अधिष्ठान होने के कारण उसके सम्बन्ध में कभी भी भ्रम ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता है कि आत्मा है या नहीं । क्योंकि जब मैं(आत्मा) ही नहीं होगा तब संशय या भ्रम ज्ञान किसे होगा । सबके पूर्व में ''मैं'' तो विद्यमान ही रहेगा । अतः मैं आत्मा ही यथार्थ ज्ञान है, इसमें कभी संशय, विपर्यय या व्यतिरेक प्रमा का स्थान नहीं है । मैं आत्मा सर्वदा सब विषय ज्ञान में अपरोक्ष(प्रत्यक्ष) न रहे तो किसी विषय का यथार्थ ज्ञान ही नहीं हो सकेगा । फिर तो सन्देह होता रहेगा कि घट ज्ञान मुझे हुआ है या नहीं । किन्तु मैं का यथार्थ ज्ञान सर्वदा वर्तमान रहने के कारण इस प्रकार के संशय कभी उदय नहीं होता कि घट ज्ञान मुझे हुआ या नहीं ? क्योंकि सभी के हृदय में ही सभी समय मैं हूँ इस आकार का यथार्थ प्रमा ज्ञान विद्यमान है । आत्मा यदि सर्वदा शरीर में नहीं रहता तब तो ऐसा संशय या भ्रम अवश्य ही उपस्थित होता । अतः स्वतः सिद्ध सर्वदा प्रकाशमान, सभी कल्पनाओं का अधिष्ठान एवं समस्त दृश्य पदार्थों का प्रकाशक होने के कारण आत्मा को मिथ्या नहीं कहा जा सकता । अर्थात् आत्मा स्वतः सिद्ध है परतः सिद्ध नहीं है । तब भी कल्पित अज्ञान एवं अज्ञान के कार्य की निवृत्ति के लिए कल्पित चित्त वृत्ति विशेष की अपेक्षा रहती है । क्योंकि जो कल्पित है वही दूसरे कल्पित का नाशक हो सकता है । समान सत्ता ही आपस में साधक बाधक हो सकती है । स्वप्न की भूख स्वप्न के पदार्थो से ही मिटती है, जैसा यक्ष तैसी बली । ''याक्षानुरूपो बलिः'' अतः ऐसे चित्त वृत्ति विशेष की उत्पत्ति के लिए ही शास्त्र का प्रारम्भ हुआ है । यह वृत्ति विशेष केवल मात्र ''तत्त्वमसि'' इत्यादि महावाक्यों से ही उत्पन्न होती है । अस्तु सामान्य ज्ञान ही प्रमा याने यथार्थ ज्ञान है किन्तु विशेष ज्ञान मिथ्या हैं

।

प्रश्न-७७ : आत्मा को अप्रमेय क्यों कहा जाता है ?

उत्तर : जो वस्तु किसी भी प्रकार अन्य द्वारा न जानी जा सके ऐसी स्वयं प्रकाश वस्तु को ही अप्रमेय कहा जाता है । सब प्रमाणों का जो प्रमाण रूप है याने स्वतः प्रमाण, स्वतः सिद्ध चेतन आत्मा है । वह सबको जानती है सभी प्रकार के ज्ञान उसी के द्वारा सिद्ध होते है किन्तु उसे कोई नहीं जानता, क्योंकि वह परतः सिद्ध नहीं है । चेतन, द्रष्टा, आत्मा अद्वय है''एकमेवाद्वितीयं'' तब अन्य के अभाव में चेतन आत्मा को किसी जड़ वस्तु या प्रमाण तो जान ही कैसे सकते हैं ? इसीलिए श्रुतियों में कहा है कि-

''**विज्ञातारमरेकेन विजानियात्**'' - बृह. उप.

अर्थात् जो सबको जानने वाला है उसे भला किसके द्वारा जाना जा सकता है ? अर्थात् वह अप्रमेय है । फिर भी अति सूक्ष्म हुई ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा जाना भी जाता है

''**बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम**''-गीता ६/२१

इन्द्रिय प्रमाणों द्वारा किसी भी भौतिक वस्तु को जानना प्रमेय कहा जाता है । अपना स्वरूप आत्मा किसी प्रमाण का विषय नहीं है बल्कि विषय को जानने वाला विषयी है याने प्रमेय नहीं है अप्रमेय है । उसी के प्रकाश में समस्त प्रमाणों की सिद्धि होती है ।

''**अनाशिनोऽप्रमेयस्य**''- गीता २/१८

शास्त्रकारों ने किसी भिन्न वस्तु के बोध हेतु मुख्य रूप से छः प्रमाण, किसी ने सात व आठ भी प्रमाण माने हैं । आत्मा किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होने से याने किसी भी साधन द्वारा जानने के योग्य नहीं होने से अप्रमेय कहा जाता है ।

प्रश्न-७८ : वे प्रमाण कौन से है जिनसे आत्मा नहीं जाना जा

सकता ?

उत्तर : साधारणतः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि इत्यादि प्रमाणों द्वारा किसी भौतिक वस्तु की सिद्धि की जाती है किन्तु आत्मा इन किसी भी प्रमाणों के द्वारा नहीं जान सकते, नहीं बता सकते कि आत्मा ''यह है'' ''इतना है'' ''ऐसा है'' ।

प्रत्यक्ष प्रमाणः-पंच ज्ञानेन्द्रिय द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादि के विषय की तरह आत्मा का ज्ञान इन श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना तथा घ्राणेन्द्रिय द्वारा नहीं हो सकता । क्योंकि आत्मा को शास्त्रों में ''अशब्दम स्पर्शम्'' कहा है याने वह शब्द स्पर्शादि विषय रूप नहीं है । इसलिए शब्द, स्पर्शादि को ग्रहण करने वाले श्रोत्र, त्वचादि ज्ञानेन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता ।

अनुमान प्रमाणः-जहाँ वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, वहां पर जब किसी को उस वस्तु का बोध कराना होता है तो उसके लक्षण चिन्ह बतलाकर अनुमान द्वारा बोध कराया जाता है । जैसे धुवाँ देख कर अग्नि का अनुमान होता है । आत्मा निराकार होने से उसका कोई लिंग(चिह्न) नहीं है इसलिए आत्मा अनुमान के द्वारा जानने योग्य भी नहीं है । श्रुति में कहा है ''नैव च तस्य लिगम्'' ।

उपमान प्रमाणः-जहाँ अनुमान का विषय नहीं वहाँ उपमान द्वारा बोध होता है । जैसे गाय के समान ही गवय(रोज) नामक पशु होता है । आत्मा उपमान प्रमाण का भी विषय नहीं है, क्योंकि आत्मा अद्वय है । आत्मा की तरह कोई दूसरा तत्त्व नहीं, जिसकी उसके साथ समता या उपमा दी जा सके । ब्रह्म-आत्मा तो एक ही है । इसीलिए श्रुतियों में आत्मा की सिद्धि के लिए किसी द्रष्टान्त को नहीं कहा । याने आत्मा का हेतु या द्रष्टान्त नहीं है । ''हेतु द्रष्टान्त वर्जितम'' ।

शब्द प्रमाणः-आत्मा वाणी का विषय नहीं है इसलिए श्रुति कहती

है ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' अर्थात् जिससे वाणी लौट आती है, जिसका वाणी वर्णन नहीं कर सकती है । क्योंकि वाणी की गति किसी नाम, रूप, जाति तथा क्रिया हेतु ही होती है । आत्मा में नाम, रूप, जाति, क्रिया नहीं होने से आत्मा शब्द या शास्त्र प्रमाण का विषय नहीं है । शास्त्र तो ''तत्त्वमसि'' अर्थात् वह आत्मा तू है इस प्रकार कहने वाला है । इसलिए श्रुति में आत्मा को ''यत्तदद्रश्यम् अग्राह्यम् अगोत्रम्'' अर्थात् आत्मा अदृश्य, अग्राह्य तथा अगोत्र है । अस्तु आत्मा में शब्द की प्रवृत्ति का कोई भी कारण न होने से आत्मा शब्द प्रमाण का विषय नहीं है । शास्त्र आत्मा को इदं रूप से ''यह है'' इस रूप से प्रत्यक्ष नहीं करा सकते । इसलिए आत्मा श्रुति याने शास्त्र आगम का भी अविषय ही रह जाता है । इसीलिए ''नेति-नेति'' कह कर वेद मौन हो जाते हैं । शास्त्र सम्पूर्ण जगत् प्रपंच का निषेधकर अधिष्ठान भूत सन्मात्र निर्विशेष आत्मा का प्रतिपादन तो करता है, किन्तु सविशेष आत्मा का ज्ञान होने पर भी निर्विशेष निराकार आत्मा तो अज्ञात् ही रह जाता है ।

अर्थापत्तिः-आत्मा सदा एक रस होने से आत्मा में दूसरा कोई परिवर्तन न होने के कारण आत्मा इस प्रकार की युक्ति का भी विषय नहीं है कि आत्मा ऐसा नहीं होने पर दूसरे प्रकार का होगा । यदि कोई आदमी कहे कि मैं भोजन नहीं करता और सदा मोटा-ताजा भी दिखता है तो वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण से उसके मोटेपन का अनुमान किया जाता है कि यह दिन में नहीं खाता है किन्तु रात को अवश्य खाता होगा अन्यथा बिना खाये तो कोई मोटा-ताजा हो नहीं सकता । इस प्रकार अन्यथा रूप से जानने को अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं । किन्तु आत्मा नित्य, एकरस, कूटस्थ, अविकारी, अचल रूप शास्त्रों में कहा जाता है । इसलिए आत्मा अर्थापत्ति प्रमाण का भी विषय नहीं है ।

अनुपलब्धि प्रमाणः-वस्तु जिस स्थान पर देखी हो और पुनः वह वहाँ न दिखे तो उसका अनुपलब्धि प्रमाण से बोध होना माना जाता है । आत्मा नित्य, व्यापक, सत्य, भाव रूप होने से उसका कभी अभाव नहीं

होता अर्थात् सदा विद्यमान ही रहता है इसलिए आत्मा अनुपलब्धि प्रमाण का भी विषय नहीं है ।

कहने का अभिप्राय यह है कि जिससे समस्त प्रमाण तथा प्रमेय का प्रमाण्य सिद्ध होता है याने जिससे नेत्र, श्रोत्रादि प्रमाण तथा शब्द, रूपादि प्रमेय(विषय) जाने जाते हैं उस मापने वाले को कौन माप सकेगा ? इसलिए श्रुति में कहा गया है ।

''विज्ञातारमरे केन विजानीयात्''

अर्थात् जो समस्त प्रमाणों का विज्ञाता है उसे किसके द्वारा जानेंगे ? आत्मा तो स्वयं समस्त अध्यस्त विषयों के होने न होने का प्रकाश करने के कारण आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप है । अतः आत्मा का प्रमाण्य स्वतः ही सिद्ध होता है । आत्मा के सम्बन्ध में आत्मा के अलावा किसी अन्य का प्रामाण्य नहीं हो सकता । मैं हूँ या नहीं इस सम्बन्ध में मेरे अलावा अन्य कोई प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं है मेरे लिए बस मैं ही प्रमाण रूप हूँ । इसलिए मैं को अप्रमेय कहा जाता है ।

'अनाशिनोऽप्रमेयस्य' - गीता २/१८

प्रश्न-७९ : क्या वेद विहित कर्म, योग, याग, हवन, अग्निहोत्रादि न करने से पाप लगता है ?

उत्तर : जो मुमुक्षु विवेक, वैराग्य, शमदमादि सम्पत्ति साधनों से युक्त होकर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के उपदेश से श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा सम्यक् प्रकार अपने को शरीर से रहित, निर्विकार, स्वयं प्रकाश, अद्वैत, सर्व प्रकाशक, परमानन्द, बोध स्वरूप, नित्य, एक रस आत्मा हूँ ऐसा अनुभव कर चुके हैं, निश्चय कर चुके हैं ऐसे तत्त्व ज्ञानी के लिए कोई कर्म करना सम्भव नहीं है ।

''कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चिन्हे''(रामायण)

जो अपने को देह, इन्द्रिय,अन्तःकरणसे विलक्षण(पृथक्) निष्क्रिय विकार रहित परमात्मा के रूप में जान चुके हैं कि ''वही मैं हूँ'' ऐसे आत्म तत्त्व को जानने वाले तत्त्वदर्शी आत्मवेत्ता के शरीरादि के द्वारा किसी भी प्रकार की शुभ-अशुभ क्रिया प्रारब्धवश हो जाने पर भी उसका देह, इन्द्रिय, तथा अन्तःकरण व उनके कार्यों में अहं बुद्धि(याने मैं देह, इन्द्रिय, तथा अन्तःकरण हूँ इस प्रकार की विपरीत बुद्धि) न होने से वह सर्वत्र एक निज स्वरूप आत्मा का ही दर्शन करता है इसलिए तत्त्व दृष्टि से उसके द्वारा कुछ भी क्रिया नहीं मानी जाती । ऐसे विद्वान् हेतु पुण्य कमाने या पाप निवृत्ति करने हेतु किसी भी प्रकार के कर्म की आवश्यकता नहीं रहती वह सर्व कर्मों से संन्यास धारण कर ही रहता है ।

जिन अज्ञानियों का देह, जाति, आश्रम में अहंकार है उन अज्ञानियों को अपने में कर्तव्यता मानने के कारण ही यज्ञ,याग, हवनादि कर्म करने में अधिकार बतलाया है । वेद का कर्मकाण्ड ऐसे अज्ञानियों हेतु ही आज्ञा रूप है, विद्वान् का उसमें कोई अधिकार नहीं है । देह से भिन्न अपने स्वरूप को जान गये हैं, उनके लिए इस आत्म ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् कोई अन्य साधन, कर्म अनुष्ठान करने योग्य नहीं रह जाता । क्योंकि ज्ञानी व्यक्ति को मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ ऐसी अज्ञानी की तरह विपरीत बुद्धि नहीं होती । इसलिए द्वैत बुद्धि से रहित होने से उसका कर्म करने में कोई अधिकार नहीं है । गीता ३/१७ में कहा है ''तस्य कार्यं न विद्यते'' ।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृतस्य योगिनः ।
न चास्ति किंचित् कर्तव्यमस्ति चेत् न सत त्त्ववित ।।

- जाबाल दर्शन १/२३

तत्त्व ज्ञानी के लिए शास्त्र की ओर से कर्तव्य रूप से कायिक, वाचिक तथा मानसिक तीनों प्रकार के कर्मों का निषेध, संन्यास(त्याग) ही कहा है । यदि कोई भेद भावना से कर्म करता है तो वह तत्त्व ज्ञानी नहीं है ।

जो अपने में किञ्चित् भी कर्तव्य मानता है कि मेरा अमुक कर्तव्य है, अमुक कर्म, उपासना तो करना ही चाहिये । इस प्रकार जो अपने में कर्तव्य माने वह तत्त्ववित् कदापि नहीं है, हाँ वह भक्त, योगी, कर्मी, सदाचारी, धर्मी, तपस्वी, पण्डित भले ही हो सकता है किन्तु ज्ञानी कभी भी नहीं है ।

"**यो हवै परं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति**" अर्थात् जो उस परम ब्रह्म को जानते हैं वे ब्रह्म ही हो जाते हैं इसलिए उसके लिए कुछ भी कर्म कर्तव्य रूप से नहीं है । शास्त्र में जिन कर्मों को विहित(करने योग्य) कहा गया है, वे सब अज्ञानीजनों के चित्त शुद्धि हेतु ही है ताकि वे क्रम से मल, विक्षेप, दोष की निवृत्ति कर तत्त्वज्ञान के अधिकारी बन अज्ञान का नाश कर स्वरूप निष्ठा को प्राप्त कर सके । जिसके परिणाम स्वरूप उसकी द्वैत बुद्धि नष्ट हो जाने से अद्वैत सत्ता ही सर्वत्र भासित होती रहती है ।

शास्त्र प्रतिपादित कर्म अनुष्ठान हेतु उससे सम्बन्ध रखने वाली सभी सामग्रियों को इकठ्ठा करना पड़ता है फिर मैं अमुक कर्म का कर्ता हूँ तथा अमुक देवता इसके फल दाता हैं, यह कर्म करना मेरा कर्तव्य है, मैं अभी गृहस्थी हूँ ऐसा भेद ज्ञान जिस अज्ञानी को है उस अविद्वान् के लिए ही उन वेद विहित साधनों का करना कर्तव्य रूप है । किन्तु जिन्होंने सद्गुरु तथा आत्म तत्त्व प्रबोधक शास्त्र का अर्थज्ञान कर लिया है कि मैं आत्मा ब्रह्म, अकर्ता, अभोक्ता, नित्य, एकरस, स्वयं प्रकाश, अद्वितीय, अजन्मा, अविनाशी हूँ । देहादिक प्रपंच दृश्य है और मैं उनके व उनके धर्मों से भिन्न उन सर्व का प्रकाशक हूँ । देह विकारी क्रियावान् है, मैं निष्क्रिय, निर्विकारी, अविनाशी हूँ । देह चलता है, मन ध्यान करता है, फिर भी मैं आत्मा न चलता हूँ, न ध्यान करता हूँ । तादात्म्य सम्बन्ध से भ्रांति होती है कि मैं कर्ता हूँ किन्तु मैं सर्व कर्म रहित हूँ ऐसे निश्चय वाले विद्वान् के लिए कोई कर्तव्य नहीं है ।

जगत् के अज्ञानीजनों को ज्ञानी के "**प्रति ध्यायतीव लेलायतीव**"

बृह. उप. ४/३/७ अर्थात् ''मानो ध्यान कर रहा है, मानो चल रहा है'' ऐसी भ्रांति होती है किन्तु आत्मा में यथार्थ रूप से ध्यान क्रिया, चलन क्रिया या अन्य कोई चेष्टा नहीं है । भ्रांति से ही ऐसा लगता है कि मानो आत्मा ऐसा कर रहा है, जैसे नाव में सफर करते वक्त ऐसा लगता है मानो किनारे के वृक्ष या चन्द्रमाँ भी तेजी से हमारे साथ आगे बढ़ रहे हैं । अस्तु नित्य, एक रस, अद्वितीय, आत्म तत्त्व को ''यह मैं ही हूँ'' इस प्रकार साक्षात् रूप से जो ज्ञानी जानता है अर्थात् ऐसी अपरोक्ष अनुभूति जिस जीव को हुई है । वह सर्वात्म भाव को प्राप्त पुरुष सर्वत्र तथा सबकी आत्मा के रूप में मैं ही विद्यमान हूँ, ऐसे प्रत्यक्ष अनुभव सम्पन्न विद्वान् हेतु कोई भी कर्म करना कर्तव्य रूप नहीं है । क्योंकि कर्म का हेतु याने कारण तो अज्ञान है तथा निर्विकार आत्मा का ज्ञान होने से कि वह ब्रह्म मैं आत्मा हूँ याने ब्रह्म को जिसने अपनी आत्मा के रूप में अनुभव कर लिया है ऐसे ज्ञानी का सर्व कर्म के त्याग में ही अधिकार है । पारमार्थिक दृष्टि से किसी कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म के प्रति उसकी रुचि प्रवृत्ति नहीं होती । प्रायः मुमुक्षु की आत्म ज्ञान में प्रवृत्ति होने मात्र से ही कर्म के प्रति रुचि समाप्त हो जाती है । फिर जिसे दृढ़ निश्चय हो गया है उस दृढ़ ज्ञानी के लिये तो कर्म कर्तव्य हो ही कैसे सकता है ? अर्थात् किंचित् भी कर्तव्य नहीं । कर्म करने से पुण्य नहीं तथा उसके द्वारा कर्म न करने से या निषिद्ध कर्म हो जाने से उसे पाप भी नहीं होता ।

किन्तु तत्त्वज्ञान श्रवण, मनन का जिसे अभी तक सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे अज्ञानी को अपने अन्तःकरण की शुद्धि हेतु, आत्म ज्ञान का अधिकारी बनने हेतु वेद विहित आश्रम, जाति परम्परा अनुसार सभी कर्मों को करना चाहिये । किन्तु जिसने सद्गुरु के उपदेश श्रवण, मनन,निदिध्यासन कर संशय विपर्यय रहित आत्मानुसंधान कर लिया है कि मैं निर्विकार, अद्वितीय, निराकार, निरवयव, आकाशवत् आत्मा हूँ । किसी भी विधि निषेधात्मक क्रिया द्वारा मेरी हानि नहीं हो सकती मैं नित्य, सत्य, चित्,

आनन्द स्वरूप ब्रह्मात्मा हूँ ऐसे निश्चय वाले ज्ञानी पुरुष के लिये कोई कर्तव्य कर्म नहीं है ।

प्रश्न-८० : वेद के कर्मकाण्ड का मुख्य प्रयोजन क्या है ? तथा स्वर्ग, सुख, अमृत, सोमरस का कथन कहाँ तक सत्य है ?

उत्तर : सम्पूर्ण वेद के तात्पर्य को न जान केवल कर्मकाण्ड में ही प्रीति रखने वाले अज्ञानीजन स्वर्गादि प्राप्ति के साधन योगादि को ही जीवन का परम पुरुषार्थ मानते हैं । भोग में आसक्त मूढ़ जीवों को वेद विहित कर्म करा कर उनके चित्त की शुद्धि कराना ही वेद के कर्मकाण्ड का एकमात्र प्रयोजन है । क्योंकि चित्त शुद्धि हुए बिना आत्म ज्ञान नहीं हो सकता है । इसीलिए वैदिक कर्म में रुचि उत्पन्न करने के लिए ही वेद में स्वर्गादि कर्म फलों की इतनी लुभावनी प्रशंसा की है । कर्म फल केवल अर्थवाद(स्तुति-प्रशंसा) मात्र ही है । इस अर्थवाद का प्रकृत उद्देश्य यह है कि कर्मयोगी पहले याग-यज्ञादि के फल से आकर्षित होकर बाद में कर्म फल को नश्वर, अनित्य, दुःख रूप दोषों सहित जानकर कामना शून्य होकर वेद विहित कर्मों को निष्काम भाव द्वारा कर चित्त शुद्धि प्राप्त करने में समर्थ होंगे । क्योंकि सभी सकाम कर्मानुष्ठान का फल नाशवान ही होता है । कर्म में प्रवृत्ति कराने हेतु जिन फलों का प्रलोभन दिया था, अज्ञानी उसी को सत्य मान कर्म में ही सदा आसक्त रहते हैं । ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करना है इस प्रकार की बात को तो वे जानते एवं मानते ही नहीं या प्रशंसा वाक्य अर्थवाद कह कर निंदा करते हैं ।

वेद के कर्मकाण्ड में मूढ़ जीव को आकर्षित करने हेतु अर्थवाद के रूप में कुछ वाक्य लिखे है उन्हें ही अज्ञानी सत्य मानकर कर्मकाण्ड के द्वारा भोग ऐश्वर्य स्वर्गादि को ही परम पुरुषार्थ निश्चय कर बैठता है । जैसे ‘‘हम लोग सोमरस पान कर रहे है’’ दक्षिण-अग्नि के उपासक अमृतत्त्व प्राप्त करते है ‘‘चातुर्मास्य यज्ञ करने वाले को अक्षय पुण्य होता है’’ इत्यादि फल शून्य

गन्धहीन पलाश पुष्प की तरह सुहावने मन लुभावने वेद वाक्य के द्वारा सन्तुष्ट होकर कर्मकाण्ड में रत रहते हैं तथा औरों को भी प्रेरित करते रहते हैं । जिससे वे मूढ़ लोग वेद के यथार्थ तात्पर्य का अनुसन्धान करने को भी चेष्टा नहीं करते तथा उपासना कांड व ज्ञान कांड को प्रशंसनीय नहीं बताते हैं क्योंकि वे लोग भोग वासना के द्वारा आकुल बने रहते हैं । इसलिए स्वर्ग को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं ।

जो पुरुष ऐश्वर्य कामी हो तो उनका वायु देवता के उद्देश्य से स्वेत पुष्प को बलि रूप चढ़ाना उचित है । ऐसा कर्म, कर्म फल एवं कर्म के फल प्राप्ति का उपयोगी साधन प्रशंसा के रूप में जिन वेद वाक्यों में कहा गया है उनमें ही जो लोग रत रहते हैं अर्थात् सभी अर्थवाद को ही जो लोग सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य मानते हैं और उससे भिन्न ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्ति रूप परम पुरुषार्थ नहीं जानते हैं; अतः उन लोगों की निष्काम कर्म योग के न करने से चित्त शुद्धि नहीं होती व चित्त शुद्धि के अभाव में ज्ञान का फल मोक्ष की सिद्धि भी नहीं होती । जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिये एवं क्या नहीं करना चाहिये इस विषय में जिन्हें सत-असत्, नित्य-अनित्य का विवेक नहीं है, ऐसे व्यक्ति ही कर्म तथा उसका फल सत्य जान आसक्त रहते हैं । इसलिए कर्मकांडिय वेद वाणी को जन्म, कर्म, फल प्रदाता कहते हैं । क्योंकि कर्मों का जो लोग अनुष्ठान करते हैं उन लोगों को विभिन्न योनि में जन्म और कर्म फल भोग करना पड़ता है । भोग तथा ऐश्वर्य की वासना के कारण उनका कर्मकाण्ड के प्रति अत्यधिक दुराग्रह प्रीति रहती है ।

वास्तव में तो चित्त शुद्धि करने के लिए ही वैदिक कर्मों में रुचि उत्पन्न करा स्वर्गादि फलों की प्रशंसा की गई है । यह फल अर्थवाद मात्र है सत्य नहीं है । पलाश वृक्ष जिस प्रकार दूर से रमणीय होता है किन्तु वह गन्धहीन होता है उसी प्रकार स्वर्ग के सुख कल्पना मात्र है । सत्य तो यह है कि स्वर्ग आदि वस्तु में परम पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि वे अनित्य

है तथा राग-द्वेष अशान्ति से युक्त है तथा क्षयशील है । किन्तु अज्ञानी तो चित्त शुद्धि के अभाव में स्वर्ग को ही परम वस्तु,परम लक्ष्य मानकर कर्म रत रहते हैं तथा ज्ञान द्वारा मोक्ष को स्वीकार नहीं करते हैं । क्योंकि भोग वासना के अतिरिक्त उनके अन्तःकरण में और कोई अवकाश(स्थान) ही नहीं रहता । इसलिए वे अज्ञानी वेद के वास्तविक तात्पर्य ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लाभ से वंचित रह जन्म-मरण के चक्र में ही भ्रमित होते रहते हैं । परन्तु वास्तव में वैदिक कर्मों को करा चित्त शुद्धि द्वारा ज्ञान से मोक्ष प्राप्त करा देना ही वेद का चरम लक्ष्य है । इसीलिए कर्म में रुचि जाग्रत कराने हेतु फल का प्रलोभन रखा है ।

प्रश्न-८१ : तत्त्व ज्ञानी को भोग वासना किस प्रकार सम्भव है ?

उत्तर : सर्वत्र निज आत्म ब्रह्म बुद्धि से निश्चय करने वाले आत्म ज्ञानी को इच्छा पूर्वक किसी विषय का ग्रहण सम्भव नहीं है; क्योंकि गुरु मुख द्वारा वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा अविद्या नष्ट होने से उनका कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि अभिमान भी नष्ट हो जाता है । अज्ञान से ही विषय में भेद, बुद्धि तथा अनित्य विषयों के प्रति भोग्य बुद्धि होती है । किन्तु जिन लोगों को सद्गुरु कृपा से ऐसा दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान हो गया है कि आत्मा ही एकमात्र सद् वस्तु, चिद वस्तु तथा आनन्द वस्तु है शेष सब मिथ्या एवं नाशवान है और वह आत्म ब्रह्म मैं ही हूँ । ऐसे तत्त्वज्ञ पुरुषों का इन्द्रिय विषय समूह में विचरण करने पर भी विषय भोगों के प्रति आसक्ति उत्पन्न नहीं होती है । विषयों का मिथ्यात्व निश्चय होने पर उनमें इन्द्रिय समूह विचरण करने से भी आत्म ज्ञानी स्थित प्रज्ञ की ब्राह्मी स्थिति की तनिक भी हानि नहीं होती । अतः इन्द्रिय समूह को विषय समूह से रोक देने से ही ब्रह्म ज्ञानी माना जावेगा ऐसा सन्देह न करें ।

अपनी प्रकृति के अनुसार इन्द्रिय समूह विषय में विचरण भी करे तो भी ग्राह्य, ग्राहक तथा ग्रहण या भोक्ता, भोग्य तथा भोग में एक मात्र ब्रह्म दृष्टि

रहने के कारण उनकी ज्ञान निष्ठा की स्थिति की कोई हानि नहीं होती है । द्रष्टा स्वरूप आत्मा में स्थित होने के कारण ''गुणा गुणेषु वर्तन्त'' अर्थात् इन्द्रिय रूप गुण(माया का कार्य) विषय रूप गुण में (माया के कार्य) वर्त रहे हैं; अतः इन्द्रिय तथा विषय दोनों दृश्य होने से मिथ्या है । ऐसा विवेक होने के कारण किसी कर्म में उनकी आसक्ति एवं अभिमान नहीं रहता । स्थितप्रज्ञ आत्म ज्ञानी पुरुष के निकट प्रारब्ध से भोग समूह उपस्थित होने पर भी उसकी उन विषयों में भी मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार की आत्म बुद्धि होती है । याने अद्वय आत्मा ही भोक्ता, भोग्य तथा भोग रूप में प्रतीत हो रहा है । ऐसी बुद्धि दृढ़ होने से उसे उन विषयों के द्वारा कोई हानि नहीं होती ।

जैसे चक्र को गति देने पर कुम्भकार घटादि इच्छित वस्तु को बना लेने पर चक्र को गति देना बंद कर देने पर भी वह कुछ क्षण अपने पूर्व प्राप्त वेगानुसार अनर्थक ही घुमता रहता है । अथवा बिजली के द्वारा चलने वाला पंखा स्वीच बंद कर देने पर भी कुछ क्षण पूर्व प्राप्त वेगानुसार चलकर स्वतः शांत हो जाता है । उसी तरह ज्ञान द्वारा अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी प्रारब्ध भोग पूर्ण होने तक देह बना ही रहता है । जिस प्रारब्ध भोग हेतु देह का निर्माण हुआ है वह भोग भोगने हेतु ज्ञानी, अज्ञानी सभी के पास वह प्रारब्ध आकर ''मुझे भोगो'' इस प्रकार प्रेरित करता है । यह स्वरूप ज्ञान होने के बाद शेष रही लेशाविद्या देह निर्वाह का कार्य देह पर्यन्त करती रहती है । अर्थात् शब्द, स्पर्शादि विषयों का भोग जीव के पूर्व संचित कर्मानुसार लाकर, उपस्थित कर देती है । जैसे सैकड़ों नद, नदी की जलराशी महासमुद्र में प्रवेश कर भी जैसे समुद्र की किसी भी प्रकार न्युनाधिक हानि लाभ नहीं कर पाते वरन् समुद्र अपनी महिमा में ज्यों का त्यों अचल निश्चल ही बना रहता है । उसी तरह विषय समूह तत्त्व ज्ञानी के चित्त में प्रवेश कर जाने पर भी किसी प्रकार विकार उत्पन्न नहीं कर पाते हैं । पद्मपत्र(कलम पत्र) की तरह ज्ञानी का चित्त काम रूप जल के द्वारा कभी आसक्त नहीं हो पाता तथा प्रारब्ध कर्म भोग होने पर भी उनका चित्त निर्विकार ही बना रहता है ।

समुद्र में अनेक नद, महानद प्रवेश करने से भी समुद्र की प्रतिष्ठा(स्थिति) अचल ही रहती है तथा समस्त नदियाँ समुद्रभाव को ही प्राप्त हो जाती है । उसी तरह परिपूर्ण ब्रह्म में स्थित ज्ञानियों में भोग समूह प्रवेश करने से भी ज्ञानी की ब्राह्मी स्थिती में किसी प्रकार विकार उत्पन्न नहीं होता बल्कि वह भोग्य, भोग भी ब्रह्मभाव को ही प्राप्त हो जाता है । वे ज्ञानी सदा ही आत्मानंद में निमग्न रहकर अविचलित समुद्र की तरह स्थिर रहते हैं । क्योंकि जब तक प्रारब्ध कर्म के वेग से शरीर रहता है तब तक देहधारी द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का त्याग नहीं हो सकता ।

प्रश्न-८२ : जीवन निर्वाह सम्बन्धित सर्व कर्म का त्याग कर देव उपासना, पूजा, कीर्तन करते रहने से मुक्ति होगी या नहीं ?

उत्तर : मुक्ति के लिए किसी नाम, रूप, क्रिया, गुणादि की उपासना करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि गुण विशिष्ट पूजा, उपासना करने अथवा नाम कीर्तन करने से निर्गुण ब्रह्मी स्थिति रूप मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं हो सकता । किसी भी भगवान विष्णु, शंकर, राम, कृष्णादि देवी-देवता की उपासना या पूजा भी मोक्ष में उपयोगी नहीं है, क्योंकि ''देवान्देवयजोयान्ति'', ''देवो भूत्वा देवानप्येति'' देव को पूजने वाला देव को ही प्राप्त होता है । उनके लोकों में ही पहुँच सकेगा और वे देवता तथा उनका लोक भोग सब नाशवान् होने से शाश्वत शान्ति रूप मोक्ष नहीं दिला सकते । नाम कीर्तन भी मोक्ष के लिए उचित नहीं है, क्योंकि नाम कीर्तन की महिमा शास्त्रों में पाप क्षय तथा पुण्य प्राप्ति रूप ही केवल कही है । अर्थात् नाम कीर्तन द्वारा कर्ता पुरुष का कोई पाप नहीं रहता है । सगुण उपासना से भी मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि जो दृश्य है वह असत्य है । ''यद् दृश्यं तत् असत्यं'' इस वाक्य से यही स्पष्ट होता है कि अव्याकृत(माया) से लेकर स्थूल दृश्य पदार्थ तक सब असत् है । सभी उपास्य वस्तु सगुण होने के कारण असत् ही है । अतः असत् की उपासना के द्वारा जो फल की उत्पत्ति या उपलब्धि होगी वह

भी नाशवान् ही होगा । अर्थात् सगुण की उपासना द्वारा कभी भी सद्भाव रूप नित्य तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती । क्योंकि कारण के अनुसार ही कार्य एवं उपासना के अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है । ''ये यथा माम् प्रपद्यन्ते'' ४/११ गीता में कहा है अर्थात् जो जिस रूप से उपासना करता है, मैं भी उसके ऊपर उसी रूप से कृपा करता हूँ । आत्म ज्ञान शून्य संन्यासियों को कटवाकर ब्रह्मदर्शी देवराज इन्द्र ने कुत्ते को भोजन दिया । योगवशिष्ठ में भी आत्म ज्ञान रहित व्यक्ति को राक्षस द्वारा खाने की कथा आती है ।

''तं यथा यथा उपासते तथैव भवति''

उसकी जिस प्रकार से उपासना की जाती है उसके अनुसार ही उस उपासक को फल की प्राप्ति होती है ।

''असूर्या नाम ते लोकाः न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः''

अर्थात् जो लोग आत्मा को नहीं जानते हैं वे लोग अन्धकार युक्त लोक में याने पशु, पक्षी, कीट पंतगादि विवेक हीन योनियों में जन्म लेते हैं । जो लोग इस आत्मा को न जानकर लोक में बहुत बड़े-बड़े यज्ञ, होम, तप, दान, पूजा, तीर्थ, कीर्तन आदि शुभ कर्म करते रहते हैं । हे गार्गी ! वे कृपण है । ब्रह्मदा. उप. याज्ञवल्क्य गार्गी संवाद ३/८/१०

शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा को अनात्म वस्तु से पृथक् अनुभव करने के लिए सभी कर्मों का संन्यास श्रुतियों के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है । इसलिए आत्मज्ञान न कर जो लोग केवल समस्त कर्मों का त्याग कर बैठते हैं उन लोगों की चित्त शुद्धि नहीं होने से वे कभी भी आत्मज्ञान के अधिकारी नहीं बन सकते । आत्मज्ञान के अभाव में संन्यासी का भी पतन हो जाता है । अतः मुमुक्षुओं को वेदान्त श्रवण के द्वारा प्रयत्न पूर्वक ज्ञान सम्पादन करना चाहिए ।

आत्मा से भिन्न अन्य सब उपास्य वस्तु सगुण होते हैं । सगुण उपासना भी संन्यासी का कर्तव्य कर्म नहीं है; क्योंकि गुणातीत आत्म स्वरूप

में स्थिति प्राप्त कर मोक्ष करना ही प्रकृत संन्यास का एकमात्र लक्ष्य है । अतः गुणयुक्त किसी भी देवी-देवता, अवतार की उपासना करने से निर्गुण (गुणातीत) आत्म ब्रह्म में स्थिति प्राप्त करना असम्भव है । अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ ऐसा शुद्ध ज्ञान होना उसके लिए असम्भव है ।

तत्त्व ज्ञान के लिए कर्म संन्यास करने से तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्ति सम्भव है किन्तु कर्म संन्यास अर्थात् केवल कर्म त्याग के द्वारा या आत्म ज्ञान को छोड़ सर्व कर्म करते रहने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है । क्योंकि वेदान्त श्रवण से उत्पन्न जीव ब्रह्म एकत्व निश्चय रूप ज्ञान के बिना अन्य किसी साधन से मुक्ति नहीं होती है ।

जिस मुमुक्षु में आत्म जिज्ञासा नहीं हुई है उसकी चित्त शुद्धि के लिए जाति वर्णानुसार निष्कामभाव से कर्मों को अवश्य करना चाहिये अन्यथा चित्त शुद्धि न होने के कारण मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । केवल कर्मों को छोड़ बैठने का नाम संन्यास नहीं है । अज्ञान उपाधि द्वारा ब्रह्म या आत्मा में आरोपित नाम, रूप, क्रिया, गुण, धर्म, रूप, प्रपंच को बुद्धि द्वारा कल्पित निश्चय कर आत्मा को अकर्ता, गुणातीत, असंग, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, एक रस, मुक्तानन्द रूप जानना ही प्रकृत संन्यास को धारण करना है । केवल कर्म त्याग करने से संन्यास नहीं होता है ।

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः ।
यथा दर्शतलप्रख्ये पश्यत्मात्मानमात्मनि ।।

- २४४/८ महा.शान्ति

कर्मों का क्षय होने से पुरुषों में ज्ञान का उदय होता है एवं ज्ञानोदय होने से जैसे दर्पण मैं अपना मुँह स्पष्ट रूप से दिखता है उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष उस परमात्मा को देख सकते हैं ।

त्वं पदार्थ विवेकाय संन्यासः सर्वकर्माणाम् ।

त्वम् पदार्थ आत्मा के ज्ञान के लिए ही श्रुति में सर्व कर्मों का त्याग

कर संन्यास ग्रहण करने का विधान किया है । आत्म ज्ञान का जिज्ञासु यदि चित्त शुद्धि के पूर्व ही कर्मों का त्याग कर देवे तो वह व्यक्ति पतित हो जाता है । केवल शुद्धान्तःकरण ज्ञानी में ही कर्तृत्व बुद्धि त्याग करने की क्षमता रहती है । मैं कर्म का कर्ता नहीं हूँ । ''गुणा गुणेषु वर्तन्त'' गुण रूप इन्द्रिय ही अपने गुण रूप विषय में बर्तती है । मैं द्रष्टा तो असंग हूँ यही प्रकृत संन्यास है । यही प्रकृत त्याग है अस्तु बिना आत्म ज्ञान के किसी भी साधन से मोक्ष नहीं हो सकता ।

प्रश्न-८३ : तत्त्व ज्ञानी तथा मुमुक्षु को लोक संग्रह हेतु वैदिक कर्म करना आवश्यक क्यों नहीं ?

उत्तर : आत्म ज्ञानी सिद्ध महात्मा तथा श्रवण, मननादि साधन में प्रवृत्त मुमुक्षु साधक हेतु वैदिक कर्मों में कर्तव्यता मानना वेद शास्त्र विरूद्ध ही है । आत्म ज्ञानी का मतलब ही यही होता है कि जो जीव तथा ब्रह्म के एकत्व विज्ञान रूप अग्नि के द्वारा या ज्ञान कुठार द्वारा समस्त द्वैत भ्रम एवं उसके मूल अज्ञान को नष्ट कर चुके हैं । इस प्रकार तत्त्व ज्ञानी अपने सहित समस्त रूपों में केवल ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं इसलिए उनके द्वारा भेद मूलक कर्म अनुष्ठान नहीं हो सकते । क्योंकि उनके लिए अपने से भिन्न न तो कुछ अप्राप्त श्रेष्ठ पदार्थ है, न कोई अन्य पुरुष ही है । अतः ऐसी अवस्था में भेद मूलक कर्म करना उनके लिए सम्भव ही नहीं है । मुमुक्षु के लिए ज्ञान निष्ठा के अलावा अन्य कुछ भी कर्म कर्तव्य नहीं है, इसी उद्देश्य से कहा गया है ''तस्य कार्यं न विद्यते'' उस ब्रह्मदर्शी विद्वान् के लिए कुछ भी विधि निषेध रूप से कर्तव्य नहीं है । कर्म करने, न करने की आज्ञा तो अज्ञानी लोगों को आत्मज्ञान के अधिकारी बनाने हेतु ही शास्त्र में वर्णित है । अर्थात् जो एक ही साथ आत्मरति, आत्मतृप्त, आत्मसन्तुष्ट रहते हैं ऐसे तत्त्वज्ञानी (आत्मविद्, महापुरुष) को कोई कर्तव्य नहीं रहता । गीता ३/१८

रति, तृप्ति तथा तुष्टि ये तीनों मन की वृत्तियाँ है जो पर प्रकाश्य है

तथा साक्षी चैतन्यात्मा के द्वारा ही इनकी अनुभूति होती है ।

विचार काल ही तत्त्वज्ञानी जनों का समाधि काल है तथा व्यवहार काल ही व्युत्थान काल है । अतः व्यवहार काल में द्वैत वस्तु की प्रतीति होने पर भी अपने आत्म ब्रह्म रूप से भिन्न कुछ भी बुद्धि में निश्चय नहीं करते हैं । एक ब्रह्म के अलावा सभी वस्तु कल्पित मिथ्या प्रतीत होती है । अतः उनमें विषयों के प्रति कोई तृष्णा नहीं रहती । अपने आत्म स्वरूप में ही ''मैं ब्रह्म हूँ''(अहं ब्रह्मास्मि) बुद्धि होती है । तत्त्वदर्शी महात्मा ऐसा साक्षात्कार कर नित्यानंद, एक रस, परब्रह्मस्वरूप आत्मा में ही उनके अन्तःकरण की वृत्ति क्रीड़ा या विहार करती रहती है । अज्ञानी की तरह उन्हें विषयों में अनुराग नहीं रहता है । ज्ञानी को अपने आत्म स्वरूप में ही तृप्ति बनी रहती है इसके लिए आत्मा से भिन्न लोक भोग न होने से वह आत्म सन्तुष्ट रहता है ।

सभी प्रकार के आनन्द का आधार जो ब्रह्मानंद है उसे प्राप्त करने से स्वतः ही दूसरे सब आनन्द की प्राप्ति हो जाती है । जैसे महान जलाशय के प्राप्त होने से सभी प्रकार के जल से सम्बन्धित कार्य एक ही स्थान पर पूर्ण हो जाते हैं । अतः आत्मज्ञानी आनन्द स्वरूप आत्मा में ही तृप्त रहते हैं ।

तत्त्वज्ञ पुरुष को ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' ''वासुदेवःसर्वमिति'' यह सब ही वासुदेव या ब्रह्म है । इस प्रकार सर्वत्र एक ही आत्मा(ब्रह्म, वासुदेव, भगवान) के दर्शन होने के कारण अपने से भिन्न कोई वस्तु निश्चय में प्रतीत नहीं होती है । अतः रमण करने के लिए या तृप्ति प्राप्त करने के लिए उन्हें आत्मा से भिन्न किसी दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती है । इस प्रकार आत्मज्ञानी व्यक्ति को किसी दूसरे विषय की कामना न रहने से लौकिक अथवा वैदिक किन्हीं धार्मिक कर्मों के सम्बन्ध में कर्तव्यता नहीं रहती है । अर्थात् बाह्य किसी भी भोग की जिसे अपेक्षा नहीं है जो अपने आत्म रूप में ही तृप्त है उनके लिए कोई कर्तव्य कर्म नहीं रहता ।

तत्त्व ज्ञानी की सभी लोक तथा भोगों की कामना, ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाने तथा अपने से श्रेष्ठ भिन्न कुछ नहीं है, ऐसा निश्चय हो जाने के कारण स्वर्ग प्राप्ति के उद्देश्य से भी कर्म करना सम्भव नहीं हो सकता । यदि मुमुक्षु हेतु कर्म करना माने तो वह भी असम्भव है । क्योंकि मोक्ष प्राप्ति की जिज्ञासा कर्म, उपासना द्वारा प्राप्ति शुद्ध अन्तःकरण में ही जाग्रत होती है और वह मुमुक्षु को पहले से ही सिद्ध है । इसलिए मुमुक्षु को भी कर्म करने की आवश्यकता नहीं है । तथा शास्त्र में भी कहा है ''न कर्मणा न प्रजया'' अर्थात् न तो कर्म के द्वारा और न सन्तान आदि के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है । इस प्रकार कर्म को मोक्ष का साधन नहीं माना है । यदि कहें कि आत्म शुद्धि हेतु कर्म आवश्यक है तो आत्मा नित्य, निर्मल, असंग,कूटस्थ, निराकार, निरवयव है उसमें मल नहीं है । यदि शरीर शुद्धि हेतु कर्म करना स्वीकार करें तो भी नहीं बनता, क्योंकि सबके शरीर मल, मांस से युक्त होने से उनकी शुद्धि कभी हो ही नहीं सकती । अतः कर्म से शरीर की शुद्धि नहीं हो सकती है और अशरीरी आत्मा निरवयव होने से नित्य शुद्ध ही है, उसके लिए भी कर्म की आवश्यकता नहीं है । अस्तु कर्म के द्वारा आत्मा की शुद्धि होगी ऐसी शंका करना अज्ञान ही है ।

जिस आत्म ज्ञान के बल से ब्रह्मा, विष्णु, शंकर तथा इन्द्रादिक देवता लोग शत्-शत् करोड़ नहीं करने जैसे शास्त्र विरुद्ध कर्म करके भी स्वयं शुद्ध रहते हैं एवं दूसरे भी उनका ध्यान कर शुद्ध हो जाते हैं । फिर नित्य शुद्ध आत्मा को कौन एवं कैसे मलिन कर सकेगा ? अर्थात् कोई नहीं, कभी नहीं, किसी के द्वारा भी नहीं । असत् मिथ्या, जड़ कर्म स्वयं ही विकारी है, उनके द्वारा नित्य शुद्ध आत्म की शुद्धि मानना अज्ञान ही है । जो स्वयं ही मल रूप है वे अन्य के मल को कैसे छुड़ा सकते हैं ? अतः आत्मा स्वतः ही नित्य शुद्ध है ।

अवश्य ही चित्त शुद्धि हेतु कर्म करना उनको कर्तव्य रूप है, जिनको अपने स्वरूप का सम्यक् ज्ञान या मुमुक्षुता उत्पन्न नहीं हुई है ।

जिनको मैं ब्रह्म हूँ ऐसा निश्चय हुआ है या जिन्हें मोक्ष प्राप्ति की उत्कंठा हो चुकी है उनकी चित्त शुद्धि तो सिद्ध ही है अन्यथा उन्हें मोक्ष इच्छा या ऐसा सम्यक् ज्ञान ही उदय न हो पाता । अतः चित्त शुद्धि के फल स्वरूप जिसे आत्मा को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई है और जो आत्म तत्त्व श्रवण, मनन में लग चुका है उसे पुनः चित्त शुद्धि हेतु कर्म करने की अपेक्षा नहीं रहती ।

यदि कहें कि ऐसे तत्त्व ज्ञानी को दूसरों के हितार्थ ही कर्म करना कर्तव्य होना चाहिये, तो ऐसा समझना भी उचित नहीं है । क्योंकि अपरोक्ष ज्ञानी संन्यासी के लिए भी दूसरों के लिए कर्म करना सम्भव नहीं है । तत्त्व ज्ञानी संन्यासी निराभिमानी होने के कारण कर्म नहीं करते हैं । उनके लिए कर्म शब्द प्रयोग नहीं किया जा सकता । कर्मानुष्ठान तो देह, जाति, आश्रम आदि में ''मैं'' तथा ''मेरा'' ऐसा अभिमान, प्रपंच में सत्य एवं सुख बुद्धि, विषयों की इच्छा, कर्तव्यता की बुद्धि वालों को ही कर्म कर्तव्य रूप है । कर्तव्य न करने में पाप का भय एवं शास्त्र आज्ञा का भय इन सब बातों से ही अज्ञानी को कर्मों में प्रवृत्ति होती है । तत्त्व ज्ञानी इस अज्ञान को जीव ब्रह्म एकत्व बुद्धि रूप ज्ञानाग्नि द्वारा नष्ट द्वारा समूल दग्ध कर देते हैं । वे स्वयं निष्क्रिय असंग, शुद्ध, द्रष्टा, साक्षी, आत्म भाव में मन को स्थिर कर रहते हैं । अर्थात् मैं ब्रह्म ही हूँ ऐसा बुद्धि द्वारा निश्चय कर चुके हैं । तथा देह, इन्द्रिय, मनादि के कर्मों में से अहं बुद्धि याने मैं हूँ, मैंने किया, मैं भोगूँगा ऐसी बुद्धि छोड़ देते हैं । बुद्धि की अज्ञान ग्रन्थि नष्ट कर सभी पदार्थ में ''मैं हूँ'' यह आत्म भाव प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे आत्मरति ज्ञानी पुरुष के लिए कुछ भी कर्म करना कर्तव्य नहीं हो सकता । अनेक करोड़ों जन्मों के निष्काम कर्म के परिणाम स्वरूप ही ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसी बुद्धि उदय होती है ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते - गीता ७/१९

देहादि में अहं भाव तथा देहादि के सम्बन्धित भिन्न पदार्थ में ''ममत्व'' बोध ही संसार भ्रमण का कारण है । किन्तु ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस

एकत्व विज्ञान के द्वारा जिनका अहं तथा ममत्व भाव नष्ट हो गया है उनको दुःख रूप जन्म-मरण संसार नहीं रहता । गुरु कृपा से मैं तो ब्रह्म हो गया हूँ किन्तु बाकी लोग तो अभी अज्ञानी हैं उनके लिए लोक संग्रहार्थ कर्म करना कर्तव्य है ऐसा जो मानते है वे स्वयं ही तत्त्व ज्ञानी नहीं है । क्योंकि अंधकार तथा प्रकाश की एक साथ कामना की तरह यह बात भी अविवेक जन्य है । एक पुरुष में दोनों भावों का रहना सम्भव नहीं है । ज्ञान प्राप्त करने के बाद तो गृहस्थ विद्वान् भी संसार से, संसार के कर्तव्यों से मुक्त हो जाते हैं, तब फिर ज्ञानी संन्यासी के लिए तो कहना ही क्या ? जिस प्रकार ब्राह्मण मांस, मल भक्षण को करने की रुचि नहीं रहती है उसी प्रकार ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार ब्रह्मरूप से निश्चय करने वाले ब्राह्मण को मल, मांस रूप देह के प्रति मैं बुद्धि करने की रुचि नहीं होती अर्थात् यह शरीर मैं हूँ ऐसा देह भाव नहीं होता है ।

अपरोक्ष ज्ञानी दो प्रकार के होते है (१) सिद्ध (२) साधक, सिद्ध अपरोक्ष ज्ञानी मुक्त पुरुष होने के कारण उनके द्वारा लोक संग्रहार्थ कर्म असम्भव है । ''मैं एवं यह सब ब्रह्म है'' इस प्रकार जो निरन्तर एकत्व विज्ञान रूप ख' को धारण किए हुए हैं, उनके द्वारा द्वैत भ्रम बन्ध नष्ट हो जाते हैं । सिद्ध पुरुषको अन्य भासित न होने के कारण या सभी अपनी तरह मुक्त ब्रह्म रूप प्रतीत होने के कारण उनके द्वारा कर्म सम्भव नहीं है । यदि कोई केवल अपने को मुक्त तथा दूसरों को अज्ञानी बद्ध जानते हैं तो वह स्वयं अभी ब्रह्म ज्ञानी नहीं है । वाणी द्वारा ही अपने को मुक्त तथा ज्ञानी मानता है किन्तु अविद्या ग्रन्थि से स्वयं बंधा ही है ।

जो ज्ञान दृष्टि से अपने सहित सभी को मुक्त, शुद्ध, बुद्ध, ब्रह्म जानते हैं वे ही अविद्या ग्रन्थि से मुक्त हुए हैं । जो अभी साधक हैं उनके लिए श्रवण,मनन, निदिध्यासन को छोड़ किसी भेद मूलक कर्म करने की आज्ञा नहीं है । उनके लिए ज्ञान ही कर्तव्य है अन्य साधन कर्तव्य नहीं है । जो केवल आत्म तत्त्व श्रवण करते हैं किन्तु मैं-मेरा भाव अभी छूटा नहीं है ऐसे परोक्ष ज्ञानी के लिए भी कर्म करना लोक संग्रहार्थ कर्तव्य नहीं है । जो तत्त्व

ज्ञान के साधक हैं उनके लिए शास्त्र कहता है कि वे जिज्ञासा में प्रवृत्त होकर कर्म विधि का आदर न करे (जिज्ञासायां संप्रवृत्तो ना क्रियेत् कर्म चोद्नाम) हाँ जो व्यास, वशिष्ठ, पराशर आदि तथा उनके समानाधिकारी लोक संग्रहार्थ करते हैं ।

प्रश्न-८४ : ब्रह्मवित् पुरुष को मुक्ति के प्रतिबन्ध की निवृत्ति हेतु तो ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि देवताओं की उपासना एवं यज्ञादि कर्मानुष्ठान करना होगा या नहीं ?

उत्तर : ब्रह्मवित् पुरुष के मुक्ति में कोई प्रतिबन्ध उपस्थित नहीं हो सकता वह तो मुक्त ही होता है । देवता भी उसकी मुक्ति में विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकते । क्योंकि वह ज्ञानी ''मैं तथा यह सब कुछ ब्रह्म ही है'' इस प्रकार सर्वत्र आत्म दर्शन रूप समता भाव को प्राप्त होने से देवताओं की भी आत्मा हो जाता है ।

''तस्य घ्न देवश्चनाभूत्ये ईशत आत्मा ह्योषां स भवति''

देवता केवल आत्म ज्ञान उत्पन्न के पूर्व ही अज्ञानी व्यक्ति को उसके पथ में विघ्न उत्पन्न कर सकते हैं किन्तु ज्ञानोदय होने पर तो वे देवता आदि उसके सेवार्थ प्रस्तुत रहते हैं ।

''इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः''

- गीता ५/१९

आत्म ज्ञानी पुरुषों का तो शरीर रहते ही वे जीवित काल में मुक्त हो जाते हैं । उनकी मुक्ति के लिए कोई रुकावट नहीं रहती है । ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवता भी मिथ्या कोटी में होने के कारण अर्थात् माया, अज्ञान के कार्य होने के कारण वे तत्त्वदर्शी के आराधना योग्य विषय नहीं बन पाते; क्योंकि तत्त्ववेत्ता को मालूम होता है कि-

''माया मात्रमिदं द्वैतम''

यह सब द्वैत माया मात्र है । इस नियमानुसार अज्ञानी हेतु शास्त्र द्वारा करने योग्य कर्म भी ज्ञानी हेतु कर्म अविद्या रूप होने के कारण मिथ्या होने से त्याज्य ही है । विद्वान् हेतु पुण्य तथा पाप दोनों आत्म रूप हैं आत्मज्ञानी केलिये वेद का विधि-निषेध न होने से उसे किसी दोष की प्राप्ति नहीं होती है । इसलिए उन्हें किसी देवता की आराधना तथा उनकी प्रसन्नता हेतु किसी प्रकार द्वैत मूलक यज्ञादि कर्मानुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं रहती । वह तो ज्ञानोदय के क्षण से ही जीवन्मुक्त हो चुका है । यदि कोई ज्ञान अमृत का पान करके भी कुछ कर्तव्य मानता है तो फिर वह तत्त्ववित् नहीं है ऐसा मानना पड़ेगा ।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
न चास्ति किंचित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥

- जाबाल दर्शन उप. १/२३

प्रश्न-८५ : ज्ञानाग्नि किस प्रकार प्रकट होती है तथा किस काम में उपयोगी सिद्ध होती है ?

उत्तर : (१) जो जिज्ञासु भक्त पहले सभी कर्मों को भगवान का कर्म मान लेने में असमर्थ होने पर भी भगवान की प्रसन्नता तथा प्रीति के लिए फलाकांक्षा रहित होकर कर्म करते हैं, (२) इसके पश्चात् उनके मन में यह भाव उदय होता है कि 'मेरा कर्म नहीं है भगवान मेरे द्वारा कर्म करवा रहे हैं । ऐसा मानकर अपने अहंकार को भगवान के अहम् में मिला देते हैं । इस अवस्था में कर्म में आसक्ति तथा फलाकांक्षा नहीं रहती है ।' (३) इस प्रकार कर्मयोग सिद्ध होने के बाद कर्ता, कर्म, करण इत्यादि सभी अवस्थाओं में सर्वत्र भगवान का ही दर्शन करने का अभ्यास करते हैं ।

इस अवस्था में ''मैं कर्ता हूँ'' यह अभिमान का सम्पूर्ण रूप से नाश होता है किन्तु मैं कौन हूँ, परमात्मा से क्या सम्बन्ध है यह जानना शेष रह जाता है । इस प्रकार अहंकार नाश हो जाता है और आत्मा को जानने की

जिज्ञासा उदय होती है । तब सदगुरु के निकट बहुत ही श्रद्धा, प्रेम, भक्ति तथा विनम्र होकर साष्टांग प्रणाम एवं उनकी सेवा कर उन्हें प्रसन्न देख उपयुक्त समय में अपने कल्याण के लिए प्रश्न करता है कि मैं कौन हूँ ? ब्रह्म व मेरा क्या सम्बन्ध है ? विद्या तथा अविद्या क्या है ? मैं कहाँ से आया हूँ ? मैं कहाँ जाऊँगा ? भव बन्धन से कैसे छूट सकूँगा ?

मुमुक्षु की जिज्ञासा देख फिर वे श्रोत्रिय-ब्रह्म निष्ठ सद्गुरु उस विवेक, वैराग्य, षट सम्पत्ति, मुमुक्षुवान जिज्ञासु को वेदान्त के महावाक्यों का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा उसके प्रमाणगत(शास्त्र का तात्पर्य) सम्बन्धी संशय प्रमेयगत(जीव ब्रह्म अभिन्न है या भिन्न है) सम्बन्धी संशय तथा प्रमातागत(मैं कर्ता भोक्ता हूँ या अकर्ता अभोक्ता हूँ । अनात्मा देह हूँ या आत्मा चैतन्य) सम्बन्धी संशयों का छेदन कर लक्षणा द्वारा ''अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहम्, शिवोऽहम्'' स्वरूप में निश्चय करा अनुभव रूप ज्ञानाग्नि प्रज्जवलित करा देते हैं । जिससे संचित् तथा क्रियमाण कर्म भस्मी भूत हो जाते हैं । ज्ञानाग्नि से उत्पन्न आग प्रकट रूप से कुछ नहीं जलाती है किन्तु अहंकारी जीव के जीव भाव को समाप्त कर उस को ब्रह्म से एकत्व निश्चय करा कर कर्म समूह के कारण अज्ञान को नष्ट कर देती है । याने कर्म के फलदान की शक्ति को ही नष्ट कर देती है यही ज्ञानाग्नि है । इसके द्वारा ज्ञानी के समस्त पाप-पुण्य भस्मी भूत हो जाने से वह जन्म-मरण रूप संसार गति, से सदा के लिए मुक्त हो जाता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि देह के भीतर तथा बाहर प्रकृति ही कर्म करती है एवं इस कार्य में अज्ञानी द्वारा अहं भाव, कर्ता भाव करने के कारण पाप-पुण्य फल का उदय होता है जो उसे आवागमन में ड़ालता है । किन्तु मैं आत्मा तो अकर्ता हूँ, मेरा कोई कर्म नहीं, मैं असंग, कूटस्थ, निर्विकार, निष्क्रिय, देहादि प्रकृति का द्रष्टा चैतन्य आत्मा हूँ । कर्ता, कर्म, करण ये सब मेरा द्रश्य है, मैं तो उसका द्रष्टा या विज्ञाता उन सबसे पृथक् हूँ । इस प्रकार की आत्मानुभूति जिसे सदैव रहती है उसके अन्तःकरण में ज्ञानाग्नि प्रज्जवलित

होने से उसे किसी भी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के कर्म में कर्तापन का अभिमान तथा फलाकांक्षा नहीं हो पाती है । उसके देह, इन्द्रिय, मन, प्राण द्वारा क्रिया होते रहने से भी ज्ञानाग्नि कर्मों के फल प्रदान करने की शक्ति को भस्म करती रहती है । इस कारण शुभाशुभ क्रियाओं का पाप-पुण्य रूप फल अज्ञानी की तरह ज्ञानी को स्पर्श नहीं कर पाता ।

ज्ञानाग्नि द्वारा अनादि संचित् शुभ तथा अशुभ कर्मों के बीज रूप पुण्य-पाप राशि नष्ट हो जाती है । केवल प्रारब्ध भोग हेतु ज्ञानोदय से पूर्व प्राप्त शरीर टिका रहता है । ज्ञानी की दृष्टि में तो प्रारब्ध भी नहीं रहता, क्योंकि एक बार सम्यक् रूप से अपने आत्म स्वरूप का अनुभव कर लेने के बाद उसे पुनः देह भाव की प्राप्ति नहीं होती । अज्ञानी की तरह ज्ञानी अपने को देहादि रूप में या उन कर्म भोगों का कर्ता-भोक्ता रूप में नहीं देखता । ज्ञानी कर्म फलों को देहादि के भोग रूप से ही जानता है, किन्तु मैं कर रहा हूँ, अथवा भोग रहा हूँ ऐसा विपरीत भाव मन में नहीं लाता बल्कि आत्मा भाव में ही सदैव स्थित रहता है । इस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि से तो मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ इस निश्चय के क्षण से ही संचित तथा क्रियमाण कर्मों के साथ प्रारब्ध भी शेष नहीं रहता; क्योंकि प्रारब्ध कर्म जनित भोग देहादि में होते हुए भी वह द्रष्टा रूप से ही स्थित रहता है, कर्ता या भोक्ता रूप से नहीं । अज्ञानी की दृष्टि में ज्ञानी देह रूप तथा कर्ता-भोक्ता रूप प्रतीत होता है किन्तु ज्ञानी तो अपने सहित सर्व आत्म रूप अर्थात् आत्मा परमात्मा अभिन्न रूप जानता है ।

प्रश्न-८६ : जब परमात्मा का वास्तविक स्वरूप निष्क्रिय, निर्विकार, साक्षी, असंग, अकर्ता है तब वह भक्तों की पूजा, भोग तथा पुण्य-पाप को कैसे स्वीकार करता है ?

उत्तर : परमार्थ दृष्टि से याने वास्तविक रूप से तो जीव ब्रह्म ही है तथा जीव याने शुद्ध चैतन्यात्मा एवं ब्रह्म में कोई कर्तव्य या कारयितृत्व नहीं है

अर्थात् न जीव करने वाला है न ब्रह्म कर्म कराने वाला है । जीव तथा जगत् अविद्या याने अज्ञान का परिणाम होने से मिथ्या है । अतः जीव, जगत् तथा उसके सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता तथा संहारकर्ता ईश्वर भी मिथ्या ही है । जीव, ईश्वर और उनके व्यवहार का क्षेत्र कर्ता-भोक्ता, रूप, जगत् तीनों ही अज्ञान रूप देवी माया की रचना है । जैसे रज्जू के वास्तविक रूप को न जानने वाला व्यक्ति सर्प, दंड, भू-छिद्र, जलधारा, रबर पाईप आदि नाना कल्पना कर भ्रम से भयभीत होता है । किन्तु प्रकाश द्वारा रस्सी के ज्ञान से दृश्य सर्प तथा सर्प भ्रम ज्ञान याने विषय और विषय ज्ञान दोनों ही निवृत्त होकर स्वस्थ हो जाता है ।

इसी प्रकार जीव अपने अधिष्ठान सत्ता याने अपने चैतन्य, अखंड, अद्वय, कूटस्थ, निर्विकार, सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद शून्य देश, काल, वस्तु विभाग रहित नित्य, स्वयं प्रकाश, ज्ञान स्वरूप, आनन्द स्वरूप को नहीं जानता है । और अज्ञान से ही अपने को मैं देह हूँ, मेरा यह कर्तव्य है, मैं यह कर रहा हूँ, ईश्वर मुझे मेरे कर्मानुसार फल प्रदान करेंगे, उसे मैं भोग करूँगा, जप, तप, उपासना द्वारा मैं उन्हें प्रसन्न कर पाप-पुण्य उन्हें अर्पण कर कर्म फल से मुक्त हो जाऊँगा । ऐसी नाना प्रकार की मिथ्या कल्पना करता रहता है । जब स्वरूप ज्ञान हो जाता है कि मैं देहादि दृश्य प्रपंच, कर्म, कर्ता तथा करण से उत्पन्न फल भोक्ता नहीं हूँ, बल्कि इन समस्त का द्रष्टा चैतन्य, असंग, पूर्णानन्द स्वरूप आत्मा हूँ । इस प्रकार के ज्ञान से अज्ञान एवं उसके समस्त कार्यों का नाश हो जाता है, तब जीव, जगत् तथा ईश्वर आदि सभी भेद लुप्त हो जाते हैं याने अदृश्य हो जाते हैं । तब बुद्धि में एक आत्मा से भिन्न कोई दूसरी वस्तु कर्ता-भोक्ता, पाप-पुण्य, जीव-ईश्वर रूप में नहीं रहती ।

अज्ञान के कारण जब तक ज्ञान ढ़का रहता है तब तक ही अज्ञान के कार्य द्वैत रूप संसार प्रतीत होता रहता है । उस दृश्य जगत् में अज्ञानी जीव मोहित हो कर्तृत्व, भोक्तृत्वता का अभिमान कर दुःखी होते रहते हैं ।

अभिमान ही जीव से राग-द्वेष कराकर पुण्य-पाप की उत्पत्ति कराता है । देहाभिमान के नाश होते ही ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा स्वरूप ज्ञानोदय होते ही जीव अल्प से विभू हो जाता है तब मैं जीव हूँ, पापी हूँ, पुण्यात्मा हूँ, ऐसा विपरीत ज्ञान छूट जाता है । इसी को अज्ञान का नाश होना कहा जाता है । जीव, जगत्, ईश्वर, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष सब माया का ही कार्य है ।

''जीवेशौ माया करोति''

- नृ.ता.उत्तर.उप.१/९

किन्तु मूढ़ लोग अकर्ता, अभोक्ता, परमानन्द, अद्वितीय, आत्मा के सत्य स्वरूप का दर्शन करने में याने अनुभव करने में असमर्थ होते हैं । इसलिए जीव, जगत्, ईश्वर सम्बंध में उनको नाना भेद प्रतीयमान होता है । अतः श्रुति, स्मृति, पुराणादि में अज्ञानी जीवों को ब्रह्मज्ञान कराकर मुक्ति प्रदान कराने हेतु शुद्ध, निर्विकार, निरवयव, असंग, साक्षी, आत्मा में माया उपाधि के कार्यों को आरोपित कर उसे फल दाता, पाप हर्ता, सत्य काम, सत्य संकल्प, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी इत्यादि के रूप में वर्णन किया गया है । यह वर्णन वास्तविक रूप में परमात्मा के प्रति नहीं कहा गया है कि वह जन्म लेता है, पापी के पापों का नाश करता है, भक्तों का उद्धार करता है या धर्म स्थापना करता है । वास्तव में तो परमात्मा निष्क्रिय, निरवयव, अजन्मा, साक्षी, मात्र है; पर जब तक अज्ञान के कार्य जीव, जगत् तथा ईश्वर में भेद बुद्धि सत्य रूप से बनी रहती है, तब तक सगुण उपासना करना ही जीव के लिए अनिवार्य साधन है । क्योंकि इस क्रम से उसके अन्तःकरण स्थित मल, विक्षेप दोष की निवृत्ति हो जावेगी फिर तत्त्वदर्शी गुरु द्वारा उपदेश ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो कर वह मुक्त हो जावेगा ।

प्रश्न-८७ : एकत्व दर्शन या समत्व बुद्धि किसे कहते है ?

उत्तर : जगत् के प्रत्येक पदार्थ में दो चीजे हैं एक गोचर दूसरा अगोचर एक साकार दूसरा निराकार(१) नाम, रूप तथा क्रिया (२) अस्ति, भाति, प्रिय

अर्थात् सच्चिदानन्दता । नाम, रूप, क्रिया का तो कोई अस्तित्त्व ही नहीं है वे कभी प्रतीत होती है कभी नहीं भी इसलिए मिथ्या है । किन्तु अस्ति, भाति, प्रिय अर्थात् सच्चिदानन्द तत्त्व का कभी लोप नहीं होता इसलिए यह अधिष्ठान होने से एकमात्र सत्य है । श्री गुरुदेव के द्वारा वेदान्त महावाक्यों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन के दृढ़ अभ्यास के परिणाम स्वरूप, ज्ञानीजनों को समस्त नाम, रूप, क्रियाओं में नित्य, सत्य, चिदानन्द, निज आत्मा का ही दर्शन होता रहता है । उन्हें सुहृद, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धु, साधु, पापी आदि समस्त द्वन्द्व में एक निजात्म दर्शन ही होता रहता है । ज्ञानी समस्त विषमताओं में नाम, रूप, क्रिया, जाति, गुण, धर्म पर ध्यान न देकर सब में ब्रह्मात्म दृष्टि ही रखता है । वे जानते हैं कि सबका उपादान कारण या अधिष्ठान एकमात्र सत्य वस्तु है तथा कार्य या अध्यस्त वस्तु जो प्रतीति मात्र होने से मिथ्या ही है । जैसे किसी विवेकी को मिट्टी के बने पदार्थ में घट, दीपक, सरावादि कार्य बुद्धि हो जाने पर भी वह घट, दीपकादि भेद बुद्धि का परित्याग कर घट, दीपकादि में उपादान मिट्टी का निश्चय कर लेता है । कारण से पृथक् कार्य की कोई सत्ता नहीं होती इसलिए मिट्टी से भिन्न घट, दीपकादि कुछ पदार्थ नहीं है । इस प्रकार स्थूल पदार्थों में उपादान कारण बुद्धि के समान सर्वत्र दृश्यमान जगत् में उनकी ब्रह्म बुद्धि ही रहती है । घट, सराव, सुराहि, दीपक, ईटं, कवेलु(खपरा) दुर्गा, गणेश, सरस्वती आदि सभी व्यावहारिक दृष्टि से भिन्न वस्तुएँ है किन्तु जब इन सबके उपादान याने मूल पदार्थ की ओर दृष्टि डाली जाती है तब सभी दृश्य पात्र एक मिट्टी के अलावा और कुछ भी नहीं रह जाते । इसी प्रकार अलंकार में स्वर्ण तथा वस्त्रों में सूत्र, सिनेमा में प्रकाश या पर्दा देखना ही एकत्व दर्शन या समत्व बुद्धि है ।

प्रश्न-८८ : चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को किस प्रकार संयत की जाती है ?

उत्तर : चित्त तथा इन्द्रियों को संयत करने हेतु मुख्य तीन मार्ग है(१) ज्ञान

मार्ग (२) भक्ति मार्ग (३) योग मार्ग इन तीनों प्रकार के साधनों में योग मार्ग तो केवल संन्यासी, गृहत्यागी, ब्रह्मचारी अपरिग्रही के लिए ही है। शेष ज्ञान तथा भक्ति यह दो मार्ग गृहस्थ हेतु सम्भव है ।

(१)ज्ञान मार्गः-चित्त तथा इन्द्रियाँ माया, अज्ञान या कल्पना से उत्पन्न हुए है अतः इन्द्रियाँ अन्तःकरण तथा उनकी क्रियाएँ दृश्य होने से मिथ्या हैं और ''मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म हूँ ।'' इन समस्त दृश्य प्रपंच का सर्वदा, द्रष्टा, साक्षी उनसे असंग, कूटस्थ निर्विकार हूँ । इस प्रकार की भावना याने बुद्धि द्वारा दृढ़ निश्चय करने से ही बिना कष्ट के देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण स्वतः वशीभूत हो जाते हैं तथा साथ ही साथ मोक्ष प्राप्ति को भी हेतु है ।

(२) भक्ति मार्गः-बाहरी विषयों में भागते हुए चंचल मन को वहाँ से हटाकर निष्काम भाव से सगुण साकार भगवान की पूजा में जोड़ें तथा देह, इन्द्रिय की क्रियाएँ भगवान की सेवा में लगाने से इन्द्रिय तथा चित्त संयत होकर शुद्ध हो जाते हैं । फिर वह आत्म ज्ञान का अधिकारी हो कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । यदि सकाम भाव से भक्ति की गई तो चित्त शुद्धि के अभाव में वह ज्ञान एवं मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकेगा ।

(३) योग मार्गः- पूर्ण विरक्त हो एकान्त स्थान में लिंगोट, कम्बल, कमंडलादि देह रक्षार्थ कुछ आवश्यक सामग्री का संग्रह रख; अल्प भोजन करे, मौन रहे तथा सर्वदा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि हेतु शास्त्र विहित अभ्यास करे, जिससे चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाएँ परमात्मा के तरफ जुड़कर संयत हो जावेगी । पुनः ज्ञान मार्ग के साधन सद्गुरु द्वारा ''मैं ही ब्रह्म हूँ'' इस निश्चय का अभ्यास कर मुक्त हो जाता है । उपरोक्त साधनों में से किसी एक का अपने अधिकार अनुसार अवलम्बन करे ।

प्रश्न-८९ : क्या सर्वत्र समदर्शन करने वाले आत्मज्ञानी को भी

मुक्ति हेतु अष्टांग योग धारण करना होगा ?

उत्तर : आत्म साक्षात्कार या मुक्ति हेतु ज्ञान मार्ग के पथिक को अष्टांग योग का अवलम्बन ग्रहण नहीं करना पड़ता है । यदि चित्त वृत्ति निरोध रूप योग आत्म साक्षात्कार का उपाय मानते हैं, तो उसी प्रकार जड़ दृश्य से भिन्न मैं चेतन द्रष्टा आत्मा हूँ का विवेक ज्ञान भी आत्म साक्षात्कार का एक स्वतन्त्र उपाय है । इस विवेक ज्ञान के लिए निर्विकल्प समाधि रूप योग की आवश्यकता नहीं है । इसलिए वशिष्ठ देव ने रामजी को यही उपदेश किया ।

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव,
योगो वृत्ति निरोधश्च ज्ञानं सम्यग् वेक्षणम ।

- ५/७८/८ योग वशिष्ठ

असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचित् तत्त्वनिश्चयः,
प्रकारो द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः ।
ममत्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञान निश्चयः ॥

- ६/१/१३/३५ योग वशिष्ठ

अर्थात् हे राम ! चित्त नाश के दो मार्ग है योग तथा ज्ञान । इनमें अष्टांग योग साधन द्वारा चित्त वृत्ति का निरोध करने को योग कहते हैं । तथा विवेक के द्वारा जो सर्वत्र समदर्शन होता है अर्थात् अपने आत्मा का सर्व रूप में अनुभव होना ही ज्ञान है । शरीर स्वस्थ न होने से किसी के लिए योग असाध्य होता है, और किसी को बुद्धि की मन्दता के कारण तत्त्व का निश्चय करना असाध्य होता हैं । इसी कारण अधिकारी भेद से परम शिव की प्राप्ति में दो उपायों का निर्देश किया है किन्तु हे राम ! मेरे मत से ज्ञान योग ही सुख पुर्वक सबके लिए साधने योग्य है ।

ज्ञान मार्ग में चित्त नाश के लिए साक्षी चैतन्य से उसके उपाधि भूत चित्त को पृथक् जानने से बिनाकष्ट चित्त के नाश रूप फल की प्राप्ति हो जाती

है । मुझ साक्षी आत्मा में चित्त कल्पित होने से उसके समस्त कार्य मिथ्या ही है । जड़ साक्ष्य कल्पित अध्यस्त पदार्थों की अपने अधिष्ठान साक्षी चैतन्य से पृथक् कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अतः दृश्य मात्र ही मिथ्या तथा सत्ता रहित है । केवल चित् स्वरूप साक्षी आत्मा ही एकमात्र वास्तविक सत्य वस्तु है । इस प्रकार विचार के द्वारा आत्म साक्षात्कार करने से चित्त का अदर्शन रूप मिथ्यापना निश्चय हो जाता है । क्योंकि अधिष्ठान रूप परमार्थ सत्य वस्तु आत्मा के सम्बन्ध में ज्ञान दृढ़ होने से आत्मा में कल्पित चित्त तथा उसके कार्य समूह का अनायास ही अभाव हो जाता है । इसलिए ज्ञान मार्ग के अधिकारी को योग मार्ग ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है । वे विचार द्वारा ही स्वरूप का मैं रूप से निश्चय कर चित्त के दोषों का नाश करके स्वयं सिद्ध हो जाते हैं । पुज्यपाद भगवान शंकराचार्य ने कहीं भी ब्रह्मवेत्ताओं के लिए योग की आवश्यकता का प्रतिपादन नहीं किया है ।

इसलिए अनेक जन्म कृत पुण्य राशि के परिपाक से उत्पन्न हुई आत्म जिज्ञासा से मुमुक्षु किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ, परमहंस सद्गुरु की शरण में जाकर ब्रह्म साक्षातकार रूप मोक्ष हेतु ज्ञान में ही प्रवृत्त होते हैं किन्तु अष्टांग योग में नहीं । इस विवेक ज्ञान हेतु निर्विकल्प समाधि रूप योग की अपेक्षा नहीं है । यह निर्विकल्प समाधि रूप असम्प्रज्ञात समाधि भी चित्त नाश का एक उपाय है ।

जो साधन पुरुष को परमात्मा के साथ एकत्व का बोध करा दे वही साधन योग नाम से कहा जाता है ।

मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि योगी तथाा समदर्शी दोनो प्रकार के व्यक्ति ही आत्म साक्षात्कार के अधिकारी है ।

प्रश्न-९० : आत्मा में सर्व भूतों को तथा सर्व भूतों में आत्मा को ज्ञानी किस प्रकार देखते हैं ?

उत्तर : आत्म ज्ञानी को "मैं ब्रह्मस्वरूप ही हूँ" ऐसा यथार्थ ज्ञान होने से

अर्थात् अपने आत्म स्वरूप के साथ परमात्मा(ब्रह्म) की एकता का ज्ञान होने से ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक नाना नाम, रूप, जाति, क्रिया, वाले पदार्थों तथा प्राणियों में भी सर्वत्र समान रूप से एक निजात्म ब्रह्म की ही प्रतीति होती रहती है अर्थात् सर्वत्र समदर्शन होता रहता है । जीव तथा जगत् दोनों ब्रह्म रूप अधिष्ठान में कल्पित अध्यास मात्र होने से मिथ्या है । कारण से कार्य पदार्थ की जैसे कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती है, उसी प्रकार अध्यासिक जीव तथा जगत् की अपने अधिष्ठान ब्रह्मात्मा से पृथक् सत्ता नहीं है ।

जगत् की सभी नाम, रूप, क्रिया कल्पित है अतः अधिष्ठान सत्ता के अतिरिक्त इन अध्यस्त नाम, रूप, क्रियात्मक कल्पित दृश्य जगत् की कोई पृथक् सत्ता नहीं है । जैसे पदार्थ दृष्टि वाले हार, कंठा, कांची, चैन, चूड़ी के पृथक्-पृथक् नाम, रूप, क्रिया के दर्शन होते हुए भी बुद्धिमान् व्यक्ति उन सबको स्वर्ण के अलावा दूसरा कुछ नहीं देखता है । अथवा घट, सराव, दीपक, सुराही, ईंट, खप्परादि के कण-कण मिट्टी के अलावा दूसरा कुछ नहीं है । अथवा तरंग, बुलबुले, फेन, भँवरी, बादल, ओस, भाप, बर्फ रूप में जल के अतिरिक्त दूसरी वस्तु का अस्तित्त्व नहीं देखते हैं उसी प्रकार तत्त्वदर्शी को सर्वत्र आत्मा साक्षात्कार होने से सर्व भूतों में अधिष्ठान आत्म सत्ता का ही अनुभव होता रहता है । अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सर्व भूत को आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देखते हैं । जिस प्रकार अल्प अन्धकार के कारण रस्सी ही सर्प, दंड जलधारादि रूप में भ्रांति से प्रतीत होती है; किन्तु सब प्रतीतियाँ रज्जु में कल्पित होने से मिथ्या ही है, उसी प्रकार अज्ञानवश नित्य सत्य आत्मा में जो ईश्वर, जीव तथा जगत् कल्पित प्रतीत होता है वह स्वरूप बोध हो जाने के बाद यह सर्व जगत् ''मैं ही यह सब हूँ'' ऐसा भान होता है ।

मुमुक्षु पुरुष को जब आत्म ज्ञान प्राप्त होता है तब उसे जगत् की आत्मा से पृथक् कोई सत्ता प्रतीत नहीं होती है । ''सब आत्मा है'' ''सब ब्रह्म है'' ''आत्मै वेदं सर्वम्'' ''ब्रह्मै वेदं सर्वम्'' ''अहमे वेदं सर्वम्''

अर्थात् मैं, तुम, वह, यह सब रूप में एक ही ब्रह्म तत्त्व प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमात्मा ही परिपूर्ण दृष्टिगोचर होता रहता है याने अनुभव में आता है । फिर आधार याने अधिष्ठान तथा आधेय याने अध्यस्त या का भय नहीं रहता । द्रष्टा-दृश्य, साक्षी-साक्ष्य, जड़-चेतन, आत्मा तथा अनात्मा दोनों एक ही हो जाते हैं । तब उसे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव एक अद्वितीय अखंडानन्द आत्मा का ही सर्वत्र दर्शन होता रहता है । इसी अनुभव से मोक्ष होता है ।

प्रश्न ९१ : सम्प्रज्ञात समाधि तथा असम्प्रमात समाधि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिन्हें सर्व प्रथम सर्व प्रपंच की अपनी आत्मा के रूप में प्रतीति होती है; उन्हें सोपाधिक ब्रह्मविद् कहते हैं । तथा अभ्यास के परिपक्व होने पर जिनकी दृष्टि में जगत् या अन्य किसी दृश्य वस्तु का अस्तित्त्व नहीं रह जाता केवल आत्मा का ही अनुभव रूप निरन्तर दर्शन होता रहता है उन्हें निरूपाधिक ब्रह्मविद् कहते हैं । सोपाधिक ब्रह्मवित् ज्ञानी की सम्प्रज्ञात समाधि तथा निरूपाधिक ब्रह्मवित् की असम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है । ज्ञान के परिपक्व होने के पूर्व सर्व रूप में अपनी आत्मा का याने सर्व भूत की आत्मा के रूप से अनुभव करते हैं । परन्तु स्वरूप ज्ञान परिपक्व होने पर ''सर्व'' का फिर अस्तित्त्व नहीं रह केवल आत्मा ही भासमान रहता है ।

तात्पर्य यह है कि जैसे मैं एक देह की सर्व अवस्थाओं का साक्षी सच्चिदानन्द स्वरूप साक्षी हूँ । उसी प्रकार सर्व देहों में स्थित मैं सच्चिदानन्द स्वरूप साक्षी हूँ । वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म भी सच्चिदानन्द स्वरूप है इस प्रकार एक ही आत्मा को सर्व भूतों में तथा सब भूतों को निजात्मा में जो अनुभव करते है वे ही समदर्शन युक्त ज्ञानी है ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।

गीता ६/३०

अर्थात् जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही मैं रूप से व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ आत्मा के अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ।

प्रश्न-९२ : योग भ्रष्ट किसे कहते हैं तथा उसकी मृत्यु के पश्चात् क्या गति होती है ?

उत्तर : जो साधक योग, हवन, श्राद्ध, तर्पण, तीर्थ, व्रत, पूजा, पाठ आदि समस्त लौकिक तथा वैदिक कर्मों को त्याग कर केवल आत्म ज्ञान की ''शुभेच्छा'' युक्त होकर भी बिना आत्मा के जाने देह त्याग कर देते हैं उन्हें योग भ्रष्ट कहते हैं । जिनका सत्वापत्ति नामक ज्ञान की चतुर्थ भूमिका ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा दृढ़ निश्चय होने से पूर्व ही अल्प आयु के कारण देह त्याग हो जाता है उसे योग भ्रष्ट कहते हैं । सद्गुरु मिल जाने एवं उनके उपदेशों का श्रवण, मनन होने पर भी ज्ञान दृढ़ न होने का कारण भोग वासना या बुद्धि की मन्दता है । भोग वासना वाले योग भ्रष्ट मुमुक्षु की भोग वासना पूर्ण कर वह, हो ज्ञान की श्रेणी में आगे बढ़ सके, ऐसे किसी सदाचारी श्रीमान घर में उसे जन्म प्राप्त होता है । या वैराग्यवान् योग भ्रष्ट मुमुक्षु को पवित्र ब्राह्मण कुल में ज्ञानी महात्मा के घर में जन्म ग्रहण होने से वह ज्ञान को शीघ्र प्राप्त हो जाता है । ऐसे जीवात्माओं को वर्तमान जीवन में अपने साध्य की पूर्ण प्राप्ति न होने के कारण योग भ्रष्ट कहते हैं ।

भोग वासना युक्त भ्रष्ट योगी, संन्यासी या ज्ञानी पुण्य कर्म करने वाले लोकों (ब्रह्मलोक, विष्णुलोकादि) को जाकर वहा अनेक वर्षों तक रहकर उन दिव्य भोग सुखों को भोग करता है । वहाँ उसके पुण्यों का भोग पूर्ण कर उसके पश्चात् जगत् में किसी शुद्ध सदाचारशील तथा धनाढ्य परिवार में जन्म लेता है । फिर यहाँ कर्मों का त्याग न करके अजातशत्रु और

जनकादि के समान राजा होकर भी ब्रह्म ज्ञानी होने की योग्यता को प्राप्त हो जाता है । परन्तु वैराग्यवान् ज्ञानीकुल में उन्हें ही जन्म प्राप्त होता है जो पूर्व जन्म में कर्म त्यागी हो ज्ञान रूप योग में जिज्ञासु हुए थे और आत्म साक्षात्कार के पूर्व ही देहपात् हो जाने के कारण लक्ष्य प्राप्त न कर सके थे । वे ही योग भ्रष्ट महात्मा ऐसा दिव्य जन्म प्राप्त करते है किन्तु ऐसा जन्म बहुत दुर्लभ होता है । ज्ञानेच्छा बिना कर्म भ्रष्ट तो अधोगति को ही प्राप्त होते हैं । यह बात या सुयोग तो जिज्ञासु हेतु ही है ।

प्रश्न-९३ : चित्त शुद्धि तथा एकाग्रता के साधन कर्म, उपासना न कर कोई ज्ञान में कैसे प्रवेश कर जाते हैं ?

उत्तर : केवल मोक्ष की कामना वाला कोई भी जिज्ञासु वेद में कहे गये समस्त कर्मों का उल्लंघन कर सकता है । क्योंकि उसकी आत्म तत्त्व या मोक्ष सम्बन्धी जिज्ञासा यह सिद्ध करती है कि पूर्व जन्मों में वह निष्काम कर्म कर चित्त शुद्धि तथा ध्यान उपासना कर चित्त की एकाग्रता प्राप्त कर चुका है । बिना कर्म, उपासना किए किसी को भी आत्म जिज्ञासा उत्पन्न ही नहीं हो सकती है । मति के अनुसार अगले जन्म में मन की गति याने प्रवृत्ति जाग्रत होती है ''यद् भावम् तद् भवति''

यं यं वापिस्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

- गीता ८/६

अर्थात् अन्तकाल में जीव जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ यह देह त्याग करता है अगला जन्म उसकी उसी भावानानुसार प्राप्त होता है, क्योंकि उसने पूर्व जन्म में उसी भावना से सदा चिन्तन किया था । तब जो अपने सच्चिदानंद स्वरूप आत्मा का ही चिन्तन करते हुए देह त्याग करे तो उनके मोक्ष प्राप्ति में कोई सन्देह करने का स्थान ही नहीं रह जाता है, उनकी मुक्ति तो अवश्य ही होती है ।

जन्मान्तर सहस्त्रेषु बुद्धिर्या भावितापुरा ।
तामेव भजते जन्मरूपदेशो निरर्थकः ॥

अर्थात् हजार-हजार पूर्व जन्मों के संस्कारों से जीव को जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी अनुसार वह भजन, कर्म में रुचि करता है । इसलिए उसको अन्यथा उपदेशरुचता नहीं है और इसीलिए उसको उपदेश करना निरर्थक होता है ।

पूर्व जन्म में यदि कोई कर्मी रहा हो तो वह इस जन्म में भी कर्मों में ही आसक्त रहेगा । यदि पूर्व जन्म में धर्मी रहा हो तो इस जन्म में भी वह धर्मो में रत रहेगा । यदि भक्त रहा होगा तो भक्ति में रत रहेगा । योगी होगा तो योगमें, पापी होगा तो पाप में व ज्ञानी होगा तो ज्ञान में ही तत्पर रहेगा ।

पूर्व जन्मों से प्राप्त किए संस्कार के अनुसार ही सभी जीवों की रुचि जाग्रत होती है । अतः कोई भी मनुष्य पूर्व जन्म अर्जित संस्कार के बिना वेदान्त श्रवण में, वेदान्त उपदेश में बिना संस्कारनुसार उन-उन मार्गों में तत्पर नहीं होता हैं । अर्थात् पूर्व संस्कार न रहे तो केवल उपदेशों को सुनकर उसके अनुसार कार्य करने में कोई अग्रसर नहीं होता है । इसमें इतना भेद अवश्य है कि जिसका कर्म परिपक्व हो गया है वह भक्ति का उपदेश सुनकर भक्ति में प्रवेश कर जाता है तथा जिसका भक्ति योग परिपक्व हो चुका है ऐसे साधक को ज्ञान का उपदेश श्रवण करने को मिल जावे तो वह शीघ्र ज्ञान को ग्रहण कर लेता है किन्तु उसकी पात्रता से पूर्व वह उसके हितकारी बात को भी लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं मान सकेगा ।

अतः जिस योगी के विषय में बात चल रही थी कि वह जन्म से याने प्रारम्भ से ही ज्ञान में प्रवेश कैसे कर जाता है ? तो यह समझना है कि उस मुमुक्षु ने श्रुति, स्मृति, वेद शास्त्रादि का अध्ययन या श्रवण कर वह यह निश्चय कर चुका है कि मोक्ष की प्राप्ति न ''धन से होती है, न पुत्र से, न कर्म से न कर्मणान प्रजया'' । मोक्ष का साधन कर्म नहीं है, केवल ज्ञान है ।

''ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'' इसलिए उसकी ज्ञान में ही रुचि होती है और वह वेद प्रतिपादित समस्त कर्म जाल का उल्लघंन कर जाता है। तथा वेदोक्त कर्म फलों से भी श्रेष्ठ फल ज्ञान से मोक्ष को पा जाता है। इससे ज्ञान-कर्म समुच्चय(साथ-साथ) मानने का सिद्धान्त खण्डित हुआ।

श्रीमान् घर में उत्पन्न होने पर भी पूर्व जन्म के भोग वासना के पूरे होते ही ज्ञान के संस्कार पुनः जाग्रत हो जाते हैं और वह कर्मकाण्ड का उल्लघंन कर ज्ञान का अधिकारी हो जाता है। अर्जुन प्रमाण है वह युद्ध क्षेत्र में ही भोग कर्मों से विरक्त हो अमृतत्त्व का उपदेश श्रवण करने लगा। केवल तत्त्व ज्ञान की जिज्ञासा लेकर ही जो वेदान्त श्रवण में आया है और पूर्व के प्रबल पाप संस्कार के उदय होने के कारण वह तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सका है ऐसा साधक भी देह त्याग के पश्चात् अन्य जन्म में कर्म को त्यागकर ज्ञान में प्रवेश कर जाता है।

प्रश्न-९३ : क्या भोग वासना के संस्कारी साधक का श्रीमान् घरों में जन्म होने से उसके ज्ञान के संस्कार नष्ट नहीं होते हैं ?

उत्तर : जिस मुमुक्षु ने पूर्व जन्म में वैराग्य पूर्वक वेदान्त, श्रवण, मननादि द्वारा आत्मा-अनात्मा, सत्य-असत्य का विवेक रूप अभ्यास किया है वह यदि पाप कर्म के कारण या भोगासक्ति के कारण योग भ्रष्ट होता है तो भी ब्रह्मलोकादि का दिव्य सुख अनुभव करने के बाद श्रीमान् घर में आकर भौतिक विषय सुख भोगने पर भी उसके ज्ञान के संस्कार नष्ट नहीं होते हैं। हाँ प्रबल पाप या भोग संस्कार के उदय से क्षीण होने तक घर में पड़े बीज संस्कार की तरह उसके ज्ञान संस्कार भी सुषुप्तावस्था में दबे पड़े रहते हैं। उन कर्म फलों का नाश भोग द्वारा होते ही वह पूर्व जन्मार्जित ज्ञान संस्कार स्वयं ही अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। जैसे घरों में प्रबल विद्युत्त शक्ति के बन्द होते आटोलाइट मशीन अपने आप प्रकाश देना प्रारम्भ कर देती है तथा पुनः प्रबल विद्युत्(बिजली) शक्ति आने से आटोलाइट मशीन द्वारा प्रकाश

देना बंद हो जाता है किन्तु उसका प्रकाश करने का गुण नष्ट नहीं होता है । दीर्घकाल तक अव्यक्त(अप्रकाशित) रहने पर भी उसके प्रकाशित होने के संस्कार विद्यमान ही रहते हैं । ठीक इसी प्रकार दीर्घकाल ज्ञान के संस्कार दबे रहने से भी उनका विनाश नहीं होता है; क्योंकि अल्पकाल अभ्यास करने पर भी ज्ञान की जिज्ञासा नष्ट नहीं होती है । मिथ्या कल्पित भोग वासना सत्य ज्ञान वासना को नष्ट नहीं कर सकती है । बल्कि ज्ञान वासना भोग वासना से प्रबल ही रहती है । रात्रिभर सोया पुरुष जागने पर पुनः पूर्व दिन वाले कार्यों के ज्ञान संस्कारों से युक्त होकर दूसरे दिन अपना कार्य पुनः प्रारम्भ कर देता है और अपने कार्य को पूर्ण कर लेता है । सहस्त्रों वर्षों तक यदि किसी गुफा में प्रकाश न हो एवं वहाँ रस्सी में सर्प का भ्रम बना हो किन्तु प्रकाश होते ही हजारों वर्षों का सर्प एवं अन्धकार भ्रम एक क्षण में नाश हो जाता है । परमार्थ सत्य वस्तु अचल है, इसलीए उसके ज्ञान संस्कार भी नष्ट नहीं होते हैं ।

प्रश्न-९५ : ग्रहस्थ ज्ञानी भी तपस्वी तथा कर्मनिष्ठ से श्रेष्ठ क्यों माना जाता है ?

उत्तर : जीव ब्रह्म एकत्व अनुभव ज्ञान होने से जिस ज्ञानी की समस्त वासनाओं का नाश तथा मन की चंचलता का अभाव हुआ है वह ग्रहस्थाश्रम में रहते हुए भी शास्त्र ज्ञानी, कर्मानुष्ठानी, तपस्वियों तथा भेद भक्ति वालों से भी श्रेष्ठ माना गया है । ऐसा स्वयं योगेश्वर श्री कृष्ण गीता में कहते हैं -

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।

- गीता ६/४६

कृच्छ चान्द्रायणादि व्रत करना ग्रीष्मकाल में पंचाग्नि तपना बरसात में खुले स्थान में रहना, शीतकाल में भीगे वस्त्रों को पहने रहना तथा स्वर्गादि लोकों की कामना से यज्ञादि कर्म करना या बैकुन्ठादि लोकों की कामना से

भेद उपासना करने वालों की अपेक्षा ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है । क्योंकि ज्ञान के बिना मोक्ष अन्य किसी साधन से नहीं होता है परमात्मा के साथ स्वयं का मिला रहना या अभेद निश्चय ''वह मैं ही हूँ'' ही परम तपस्या है ।

जगत् में जिसे तप कहते हैं उसका फल है पाप का नाश ''तपसा कल्मषं हन्ति'' । इसलिए तपस्या करने में ही जो पुरुष तत्पर है उन लोगों को एकमात्र पाप निवृत्ति रूप फल ही प्राप्त होता है, किन्तु तत्त्व ज्ञान नहीं मिलता । फिर तप करने वालों का सर्व पाप भी नाश नहीं होता है । विशेष-विशेष पापों की निवृत्ति हेतु विशेष-विशेष तप साधन या प्रायश्चित है । तप करने वाला वर्तमान में या भविष्य में पुनः पाप कर्म में प्रवृत्त हो सकता है; क्योंकि पापों के बीज अज्ञान का नाश तपस्या द्वारा नहीं होता है । आत्म ज्ञान होने से ही पाप वासना एवं समस्त संचित् तथा नूतन पाप कर्म भस्म होते हैं । तपस्या द्वारा भविष्य में या वर्तमान में होने वाले पापों को नहीं रोका जा सकता है । आत्म ज्ञान द्वारा तो समस्त पुण्य-पाप भस्म होकर जीव को मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है; किन्तु तपस्या द्वारा तो जीव पुण्य संचय कर भविष्य जन्मों में कर्म फल भोग का हेतु होता है । तपस्या देहाभिमान को बढ़ाने वाली होती है और आत्म ज्ञान देहाभिमान को नष्ट करने वाला होता है अस्तु इन सब कारणों से आत्म ज्ञानी तपस्वियों से श्रेष्ठ है ।

जो शास्त्रों के तात्पर्य जीव ब्रह्म की एकता का तो अनुभव नहीं करते, किन्तु शास्त्र पांडित्य में प्रवीण है ऐसे शास्त्रपाठी ज्ञानी की अपेक्षा सम्यक् ज्ञानी श्रेष्ठ है । तत्त्व ज्ञान, मनोनाश, तथा वासनाक्षय इन तीनों का पूर्ण रूप से सम्पादन कर एकमात्र ब्रह्म में जो स्थिति लाभ करता है याने मैं यह सब ब्रह्म ही हूँ ऐसा जो अनुभव करता है वह सम्यक् ज्ञानी योगी सर्व श्रेष्ठ है ।

गुरुमुख द्वारा वेदान्त श्रवण कर भी विषय वासना के कारण जो मुमुक्षु स्वरूप की दृढ़ता प्राप्त नहीं कर सका है, ऐसा अदृढ़ ज्ञानी को योग भ्रष्ट

परोक्ष ज्ञानी कहते हैं । परोक्ष ज्ञान के पश्चात् इस जन्म में या अगले जन्म में वैराग्य तथा अभ्यास के द्वारा ''मैं ही वह ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार साक्षात् रूप से आत्म तत्त्व की अनुभूति करता है, तब अपरोक्ष ज्ञानी होता है । अपरोक्ष ज्ञानी होने पर भी पूर्व संस्कार के कारण वासना क्षय तथा मनोनाश न होने के कारण प्रवृत्ति विशेष होने से जीवन्मुक्ति का विशेष आनन्द प्राप्त नहीं होता है । किन्तु अपरोक्ष ज्ञानी की विदेह मुक्ति तो अवश्य ही बनी रहती है । तथा परोक्ष ज्ञानी भी भोग संस्कार के क्षीण होने पर आत्मनिष्ठा प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

सम्यक् ज्ञानी अग्निहोत्रादि कर्म करने वालों से भी श्रेष्ठ है । जो लोग अश्वमेध, वाजपेय, अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोमादि कर्मानुष्ठान करते हैं उनको कर्मों के द्वारा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है, किन्तु पुण्यों का क्षय होने से उन कर्मीजनों को पुनः इस मर्त्य लोक में ही जन्म ग्रहण करना पड़ता है । (गीता ६/२१) तप करने वालों के समान कर्मी भी कामनाओं से युक्त,याग, यज्ञादि कर्म करते हैं, इसलिए वे भी मोक्ष के अधिकारी नहीं है । जो निष्काम रूप से यानी ईश्वर में समर्पण बुद्धि से शास्त्र में कहे गये ऐसे कर्मों को करते हैं, उनकी चित्त शुद्धि होने पर वे ज्ञान लाभ होने पर मोक्ष के अधिकारी होते हैं ।

कहने का तात्पर्य यही है कि ज्ञान सर्व श्रेष्ठ साधन है । बिना ज्ञान के करोड़ों कल्पों तक अन्य साधन करते रहने पर भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती । देश, काल, मूलबन्ध, आसन, प्राणायाम, यम-नियमादि अष्टांग योग या हठ योग के श्रम समाधि से रहित जो ज्ञान की सहज समाधि है अर्थात् यह सब ब्रह्म ही है ऐसा जो अनुभव, श्रद्धा करते हैं वही सबसे श्रेष्ठ ज्ञानी भक्त भगवान को सर्वाधिक प्रिय है ।

प्रश्न-९६ : तत्त्व ज्ञान द्वारा मुक्ति लाभ किये बिना जो लोग कर्म, उपासना करते हुए देह त्याग करते हैं उनकी क्या गति होती है ?

उत्तर : मोक्ष प्राप्ति के जितने भी साधन शास्त्रों में कहे गये हैं उनमें से अपने स्वरूप का चिन्तन निरन्तर करते रहना ही सर्व श्रेष्ठ साधन है । जिस साधन से अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति प्रेम का प्रवाह चलता रहता है, इसी को अनन्य भक्ति भी कहते हैं । ऐसे आत्म चिन्तन करने वाले साधक इस जगत् को अपनी आत्मा का ही प्रकाश देखने में किंचित् भी भेद दर्शन नहीं करते हैं । इसलिए उनकी देह रहते ही मुक्ति हो जाती है । जिस योगी ने परमात्मा के ध्यान में निरन्तर निष्ठा प्राप्त करने के लिए प्रयन्त तो किया है किन्तु मृत्यु के पहले वह आत्म ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका तो वह ब्रह्मलोक में जाकर ज्ञान लाभ कर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ।

जो व्यक्ति अपने हृदय पुण्डरीक के अन्तराकाश के मध्य में स्थित सगुण ब्रह्म की उपासना करते हैं ऐसे ''दहरविद्या'' उपासकों का यदि परमात्मा के साथ अपनी आत्मा का एकत्व अनुभव नहीं हुआ है और देह त्याग कर चुके हैं तो वे भी ब्रह्मलोक का भोग समाप्त कर वहाँ सम्यग् दर्शन प्राप्त कर याने पर ब्रह्म के साथ एकत्व अनुभव कर मुक्त हो जाते हैं । (छा.उप.के अष्टम अध्याय के नवम खण्ड में इस दहर विद्या का वर्णन है ।)

पंचाग्नि विद्या अनुष्ठान करने वाले पुरुष भी अपने पुण्य कर्म का भोग समाप्त कर पुनः संसार में लौट आते हैं । ये लोग उत्तरायण कालाभिमानी देवता द्वारा देवयान मार्ग से ही जाते हैं किन्तु इन्हें भी लौटना पड़ता है । क्योंकि ये जल, आकाश, बादल, तथा योषित्(योनि) इन पाँच प्रकार के अग्नि में श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न तथा वीर्य रूप आहूति देते हैं । याने ऐसी कल्पना करते हैं कि मैं द्युलोकादि पंच अग्नि से उत्पन्न हुआ हूँ । इस प्रकार अग्नि तथा आहुति के साथ तादात्म्यता प्राप्त करते हैं कि मैं ही वह अग्नि तथा आहुति हूँ इस प्रकार की भावना के फलस्वरूप वे ब्रह्मलोक जाकर भोग समाप्त होने पर पुनः लौट आते हैं ।

जो लोक केवल प्रतीक उपासना याने मूर्ति पूजा भेद बुद्धि से करते

हैं वे लोग तो देवयान मार्ग से विद्युत लोक से ही लौट आते हैं ।

जो वीर क्षत्रिय रण संग्राम में प्राण त्याग देते हैं वे भी ब्रह्मलोक से पुण्य भोग कर लौट आते हैं ।

जो अश्वमेधादि यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं वे भी ब्रह्मलोक में पुण्य कर्मादि का भोग समाप्त होने पर लौट आते हैं ।

जो लोग इष्ट पूर्त कर्म करने वाले होते हैं वे लोग दक्षिणायन(पितृयान) मार्ग से जाकर पुनः लौट आते हैं अर्थात् जो कर्म का तात्पर्य चित्त शुद्धि है उसे न जान सकाम अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म तथा वापी, कूप, तड़ाग, धर्मशाला इत्यादि का निर्माण तथा अन्नदान, गोदान, भूमिदान, इत्यादि तो करते हैं किन्तु भगवान की उपासना नहीं करते हैं ऐसे सकामी जन पुनः स्वर्गलोक से लौट आते हैं । ये लोग मुक्ति के अधिकारी नहीं हो पाते हैं । गीता ९/२१

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयी धर्म मनुप्रपन्ना गतागतम कामकामा लभन्ते ।।

प्रत्येक प्राणी तीन बाते चाहता है (१) मैं सदा बना रहूँ (२) मैं समस्त विषयों में पूर्ण ज्ञानी रहूँ (३) में सदा सुखी रहूँ; अर्थात् जीव सत्, चित्त, आनन्द होना चाहता है । जीव जब तक वह स्वयं सच्चिदानन्द नहीं होगा तब तक उसकी अनादि वासना तृप्त नहीं होने से बारम्बार जन्म-मरण में आता रहेगा । अतः सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा के साथ ऐक्य साधन करना ही परम प्रयोजन है । इसके लिए गुरु द्वारा अपनी आत्मा को परमात्मा "सोऽहम्" रूप जानने का अभ्यास निरन्तर करना चाहिए । "मैं ही परब्रह्म हूँ" "परमात्मा ही अपनी आत्मा है" ऐसी अव्यभिचारिणी, अनन्य, प्रेम लक्षणा, ज्ञान लक्षणा, भक्ति द्वारा ही जीव संसार चक्र से मुक्त होता है दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

प्रश्न-९७ : मोक्ष तो आत्मा का अग्नि उष्णता की तरह सहज स्वभाव

है फिर मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार कही जाती है ?

उत्तर : ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्ति नहीं होती है तथा मोक्ष तो प्रत्येक जीव का नित्य प्राप्त स्वतःसिद्ध स्वरूप ही है । अतः शास्त्रों में जहाँ-तहाँ मोक्ष प्राप्ति शब्द का अर्थ इस भाव में नहीं है कि किसी बाहरी वस्तु के समान अपने से भिन्न दृश्य रूप में मोक्ष की भी प्राप्ति होती है । प्राप्ति शब्द का यह अर्थ इस प्रकार समझना होगा कि जिस प्रकार किसी पुरुष का चश्मा या कलम कान पर विद्यमान रहने पर भी कार्य व्यस्तता के कारण चश्मा या कलम भूल जाने से वह जहाँ-तहाँ खोजने एवं लोगों से पूछने लगता है कि क्या किसी ने मेरा चश्मा, कलम देखा है ? जब वह किसी के द्वारा कानके ऊपर पहना रखा बता दिया जाता है तब वह ''ओह ! मेरा चश्मा, कलम मिल गया'' इस प्रकार कथन करता है । परन्तु कलम, चश्मा पहले से ही जहाँ का तहाँ विद्यमान ही था, न वह कहीं खोया न नूतन प्राप्त हुआ । उसी प्रकार अज्ञानवश जीव अनादिकाल से देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादिक विषयों के साथ तादात्म्यता कर अपने को अनात्मा देहादि ही मान बैठा है तथा मैं आत्मा सच्चिदानन्द नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हूँ इस स्वरूप को भुलाकर अब उसी अपने नित्य प्राप्त, मुक्त, परमानन्द स्वरूप का प्यासा होकर जहाँ-तहाँ नाना साधनों द्वारा ढूंढने, प्राप्त करने निकल पड़ा है । जब अनेक जन्मों की सुकृति के फलस्वरूप से किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ संत द्वारा वेदान्त वाक्यों का परोक्ष ज्ञान कर मनन, निदिध्यासन द्वारा''मैं ही वह सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ'' ऐसा अपरोक्ष अनुभव करने लगता है तब जीव को ज्ञात होता है कि जिस परमानन्द का अनुसन्धान इतने काल से अनेकों साधनों द्वारा कष्ट उठाकर कर रहा था, वह कहीं बाहर नहीं था बल्कि मेरी ही अन्तरात्मा के रूप से सदा विद्यमान है । अर्थात् वह ब्रह्म मेरा अपना ''मैं'' ही है । इस प्रकार ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है । आत्मा नित्य ही प्राप्त है उसको भूल से जीव ने अप्राप्त मान रखा था । 'वह मैं हूँ'' इस प्रकार के ज्ञानोदय होने को ही मोक्ष की प्राप्ति(शब्द)

रूप कहा जाता है ।

प्रश्न-९८ : कर्म, भक्ति, योग तथा ज्ञान में कौन साधन श्रेष्ठ है ?

उत्तर : अधिकारी भेद के आधार पर ही इन विभिन्न चार प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है । जो जिस साधन का अधिकारी है उसके लिए वह साधन ही श्रेष्ठ है । इस प्रकार अपने अधिकार अनुसार साधन में निष्ठा रखने से वह शीघ्र ही उत्तरोत्तर अधिकार प्राप्त करता हुआ अपने लक्ष्य वस्तु को प्रसन्नता तथा सरलता से प्राप्त कर सकता है । जो साधक अपनी योग्यता का निर्णय किये बिना ही अपने अधिकार से बाहर योगादि दुःसाध्य साधनों को श्रेष्ठ फलदायक जान साधने की चेष्टा करता है, वह साधन उसके लिए दुःख रूप होता है । अनाधिकार चेष्टा लक्ष्य वस्तु में सहायक न होकर विघ्न रूप ही सिद्ध हो जाती है । जैसे दूध शिशु के मुख में जाने से अमृत तुल्य लाभ करता है किन्तु वही दूध सर्प के अन्दर विष ही उत्पन्न करता है । अतः अपने अधिकार अनुसार ही साधन ग्रहण करना साधक का कर्तव्य है ।

भागवत के एकादश स्कन्द के २० अध्याय के ६-६ श्लोक में भगवान ने अधिकारी तथा साधन का संक्षेप से इस प्रकार वर्णन किया हैः-

जो लोग कर्मों तथा उनके फलों से विरक्त हो उनका त्याग कर चुके हैं, वे लोग ज्ञान योग के ही एकमात्र अधिकारी है । इसके विपरीत जिनके चित्त में कर्म और उनके फल स्वर्गादि से वैराग्य नहीं हुआ है और उनमें अनित्य एवं दुःख बुद्धि उत्पन्न नहीं हुई है वे सकामी व्यक्ति प्रभु प्रीत्यर्थ निष्काम कर्म के ही अधिकारी हैं । जो लोग सर्व कर्मों का त्याग कर अपने बल में विश्वास रखते हैं वे लोग योग मार्ग के अधिकारी हैं । जो न अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्व जन्म के शुभ कर्म से सौभाग्यवश परमात्मा की लीला, कथा, श्रवण, पूजन, जपादि साधन में प्रवृत्त हुए हैं वे भक्ति योग के ही अधिकारी हैं । जिन्हें इस लोक से ब्रह्मादिक लोक के सुख भोग की चाह नहीं है ऐसे परम विरक्त ज्ञान मार्ग के ही

अधिकारी हैं । कर्म, भक्ति, योग उनके लिये बाधक है ।

कर्म के सम्बन्ध में जितने भी विधि-निषेधात्मक वाक्य है उसके अनुसार तभी तक कर्म करना चाहिए, जब तक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि लोकों एवं भोगों से वैराग्य न हो जाय । जब तक देहादि में अज्ञान के कारण मैं बुद्धि(आत्म बुद्धि) रहती है तभी तक कर्म तथा कर्म फलों में आसक्ति रहती है ऐसी अवस्था वाले अपूर्ण वैराग्यवान् का निर्गुण उपासना में अधिकार न होकर सगुण ब्रह्म की उपासना में ही अधिकार है याने भक्ति का अधिकारी ही है ।

प्रश्न-९९ : सगुण तथा निगुर्ण ब्रह्म उपासक में कौन श्रेष्ठ है ?

उत्तर : सगुण तथा निगुर्ण उपासक में कौन श्रेष्ठ है ? यह प्रश्न अज्ञानता का ही सूचक है । यह तो इसी प्रकार का अर्थ हीन प्रश्न है कि पांचवीं कक्षा के विद्यार्थी तथा दसवीं कक्षा के विद्यार्थी में कौन श्रेष्ठ है ? यद्यपि अक्षर ब्रह्म(निर्गुण ब्रह्म) की अभेद रूप से उपासना से ब्रह्म स्वरूपता प्राप्त करना ही जीव का परम पुरुषार्थ है । तथापि जब तक देह, इन्द्रियादि में आत्म अभिमान रहता है तब तक निगुर्ण ब्रह्म उपासना उसके पक्ष में असाध्य होने से दुःख रूप ही है । जबकि निर्गुण उपासना मल, विक्षेप रहित उत्तम साधक हेतु सुख साध्य अति सरल है । सगुण ब्रह्म उपासना अधिकारी को उसकी निष्ठा तथा श्रद्धा को साधन में दृढ़ कराने हेतु शास्त्रों में अर्थवाद, प्रलोभनात्मक(प्रशंसा परक) वाकयों का भी वर्णन मिलता है । क्योंकि जो निर्गुण ब्रह्म की साधना के अधिकारी नहीं है और उनका मन यदि सगुण ब्रह्म उपासना से भी विचलित हो जावे तो फिर वे क्रमशः ब्रह्म विद्या के अधिकारी ही नहीं बन सकेंगे । सत्य तो यह है कि सगुण नाम, रूप भगवान माया से युक्त होने के कारण वह परमात्मा का यथार्थ शुद्ध सनातन स्वरूप नहीं है । तथापि जब तक वेदान्त वाक्य श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा माया से उत्पन्न हुए नाम, रूपात्मक विश्व प्रपंच को मिथ्या तथा ब्रह्म स्वरूप आत्मा

का सत्यत्व, नित्यत्व का निश्चय नहीं हो जाता है तब तक चित्त की स्थिरता का सम्पादन कर माया के आवरण को हटाने के लिए भगवान के किसी भी साकार मायोपाधिक रूप का आश्रय प्रारम्भ में लेना ही पड़ता है ।

सगुण भगवान के भक्त अपने देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में मैं पने का अभिमान कर भगवान का अपने से पृथक् रूप से ही भजन करते हैं । इसलिए अखण्ड, अद्वैत, शुद्ध, चैतन्य, अव्यक्त अक्षर ब्रह्म के सोऽहम्, शिवोऽहम् रूप से चिन्तन करने वाले ज्ञानी से सगुण उपासक श्रेष्ठ हो नहीं सकता । क्योंकि निर्गुण उपासक ज्ञानी भगवान् को आत्म रूप से जानते हैं एवं स्वयं ब्रह्म भी उसे अपनी आत्मा जानकर आत्म स्वरूप होकर निरन्तर उसमें ही स्थित रहते हैं । जो जिसकी उपासना करते हैं वह उसी के स्वरूप को प्राप्त होता है । अस्तु शुद्ध चैतन्य ब्रह्मात्मा के उपासको को उसी स्वरूपता की ही प्राप्ति होती है । जिसमें किसी प्रकार अपनी आत्मा याने परमात्मा से भिन्न बुद्धि नहीं है वह भला ऐसी स्थिति में किसकी भक्ति करे ?

प्रश्न-१०० : ब्रह्म को श्रुति स्मृतियों में ''न वह सत है'' ''न वह असत है'' ऐसा कहने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : ब्रह्म याने अद्वय, व्यापक, अखंड, आत्म सत्ता, इन्द्रियों का विषय नहीं होने के कारण, ''अस्ति''(है), ''नास्ति''(नहीं है) इन दोनों प्रकार के ज्ञान से अनुगत प्रत्यय का विषय नहीं है । इन्द्रियों के द्वारा जो घटादि वस्तु जानी जाती है वे या तो ''अस्ति'' बुद्धि से अनुगत प्रत्यय का विषय या ''नास्ति'' बुद्धि से अनुगत प्रत्यय का विषय होते हैं जैसे ''घड़ा है'', ''घड़ा नहीं है'' ।

यह ज्ञेय ब्रह्म इन्द्रियातीत होने के कारण केवल एक शब्द प्रमाण से ही जाना जाता है । ब्रह्म अद्वय रूप है । जब साधक ब्रह्म को ''अहं प्रत्यय''(मैं ब्रह्म हूँ) रूप में जानलेता है तो स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है ''ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति'' । तब द्वैत के अभाव के कारण ब्रह्म को इदम् रूप

से, यह रूप से ''यह सत है'', ''यह असत् है'' ऐसा कौन कहेगा ? इसलिए ब्रह्म मन, वाणी का विषय नहीं है ।

नमक का पिण्ड समुद्र को मापने के लिए प्रयोग करने से जैसी उसकी समुद्र में विलय अवस्था होती है उसी प्रकार मुमुक्षु भी ज्ञेय ब्रह्म को जानने पर ब्रह्म स्वरूपता को ही प्राप्त हो जाता है । परम ब्रह्म को मैं रूप से जानना और ब्रह्म हो जाना एक ही बात है ।

द्रष्टा, विज्ञाता ब्रह्म को इन्द्रियाँ प्रकाशित नहीं कर सकती है । अतः वह समस्त दृश्य प्रपंच की तरह ''यह है'' इस प्रकार सत रूप से भी नहीं कहा जा सकता है । याने ''इदम् अस्ति''(यह है) इस प्रकार बुद्धि वृत्ति का विषय ब्रह्म कभी नहीं हो सकता है । यह वस्तु है, तथा यह वस्तु नहीं है इन दोनों का विज्ञाता, द्रष्टा, साक्षी, स्वयं परम ब्रह्म ही है इसलिए उसको जानने वाला अन्य न होने से''वह है'', या ''वह नहीं है'' इस प्रकार उसे कौन कह सकेगा ? वह स्वयं ही अपने को जान सकता है । अर्थात् स्वयं ज्ञाता तथा ज्ञेय है यही कहने का तात्पर्य है ।

''तदेव ब्रह्म त्वं विद्धिं '' यद् इदम् नेदमुपासते'' अर्थात् ''यह ब्रह्म है'' इस प्रकार अपने से भिन्न दृश्य रूप से ब्रह्म को जानकर जो उपासना करते हैं वह ब्रह्म को नहीं जानते हैं । भाव-अभाव का प्रकाशक एकमात्र तुम्हारा अस्तित्त्व ही ब्रह्म के होने को प्रमाणित कर रहा है । ब्रह्म के होने में एकमात्र तुम ही प्रमाण हो । क्योंकि ''जीवो ब्रह्मैव ना परः'' ऐसा श्रुति का प्रमाण है । अपने से भिन्न पदार्थ को ही ''वह है'', ''वह नहीं है'' रूप से कहा जाता है अतः दृश्य में से ब्रह्मत्व बुद्धि हटाकर, निज द्रष्टा आत्म स्वरूप में ही ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा बोध कराने के लिए श्रुति, स्मृति तत्त्वमसि का वारम्बार उपदेश करते हैं । ब्रह्म याने मैं आत्मा को ''वह न सत है'' दृश्य रूप से ''न वह असत है '' ब्नध्या पुत्रवत् ऐसा कहा गया है । अर्थात् कार्य कारण रहित है ।

प्रश्न-१०१ : सर्व भूतों में सर्वाधिष्ठान स्वरूप अद्वितीय आत्म वस्तु का दर्शन करने का क्या उपाय है ?

उत्तर : इस आत्म तत्त्व के दर्शन के लिए जीवों की प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार की साधना का प्रतिपादन किया जाता है ।

(१) ज्ञानी का साधनः-जो लोग अनन्त जन्मों के निष्काम कर्म द्वारा चित्त शुद्धि प्राप्त कर निर्गुण या सगुण ब्रह्म की उपासना कर चित्त एकाग्र कर चुके हैं, उनकी बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म एवं निर्मल हो जाने के कारण वे विचार करने में समर्थ होते हैं । वे ही ज्ञान मार्ग के अधिकारी होते हैं । ऐसे अधिकारी किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के निकट एकबार तत्त्व श्रवण कर लेने मात्र से ही वे अपने आत्म स्वरूप का विश्व प्रपंच से पृथक् अनुभव कर लेते हैं ।

ज्ञानी साधक विचार द्वारा जानते हैं कि जीव हस्त पाद आदि पंच कर्मेन्द्रिय, श्रोत्र, चक्षु आदि पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण में एवं सत, रज, तम, गुण रूप प्रकृति के कार्य में अज्ञानता के कारण मैं-मेरापन करके ही आत्मा(मैं) जीव संज्ञा को प्राप्त हुआ है ।

जब जीव सद्गुरु की कृपा से लय चिन्तन की युक्ति जान उन सब दृश्य वस्तुओं का एक-एक करके उनके अधिष्ठान में या कार्य वस्तु उनके कारण में लय या नाश होने पर मैं(आत्मा) इनके द्रष्टा रूप से सदा ही असंग स्थित रहता हूँ ऐसा वह जानलेता है ।

स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों देहों की जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति अवस्था है, जो जड़ एवं दृश्य रूप होने से असत् दुःख रूप एवं विकारी है । मैं उनसे भिन्न उन अवस्थाओं का ज्ञाता या द्रष्टा सच्चिदानन्द, अविनाशी, अविकारी, निष्क्रिय, ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ । मेरे अलावा समस्त परिच्छिन्न, क्षणिक, विकारी एवं माया के कार्य होने से कल्पित हैं ।

माया स्वयं ब्रह्म की कल्पना शक्ति है एवं कल्पना कुछ वस्तु नहीं

होने से मिथ्या माया का कार्य रूप जगत् भी मिथ्या ही है । मन की कल्पना जब तक रहती है तब तक ही जाग्रत, स्वप्न विश्व प्रपंच की प्रतीति होती है । सुषुप्ति में मन के अभाव होने से कल्पना रहित अवस्था से किसी प्रकार दृश्य वस्तु की सत्ता प्रतीत नहीं होती है ।

इस प्रकार अनात्म दृश्य वस्तु से द्रष्टा स्वरूप निजात्मा को भिन्न एवं समस्त सचराचर का अस्ति, भाति, प्रिय रूप से एकत्व तथा, नाम, रूप, क्रिया का भेद दिखने पर भी सब में ब्रह्मात्मा को समान देखना ज्ञान है । और ऐसे अद्वितीय ज्ञान से ही मोक्ष होता है । इस प्रकार अद्वैत आत्म दर्शन रूप ज्ञान को ही सात्विक कहा गया है ।

(२) योगी का साधनः- जो विचार शक्ति में असमर्थ है जिनकी बुद्धि निर्मल एवं सूक्ष्म नहीं है ऐसे मंद बुद्धि वालों को अविवेक से जगत् के प्रति सत्यत्व एवं सुखत्व बुद्धि भ्रम जो हुआ है वह उनके द्वारा विचार साधन मात्र से निवृत्त नहीं होता है । अतः जिन्होंने यह जान लिया है कि चित्त वृत्ति की विक्षेपता के कारण ही स्थिर, शान्त आत्मा आवृत्त रहती है । उन विक्षिप्त साधकों के लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि योग के बहिरंग साधन एवं पश्चात् धारणा, ध्यान, समाधि रूप अन्तरंग साधन है । मैं आत्म दर्शन प्राप्त करूँगा ऐसे व्यक्ति योग साधन द्वारा आत्मा के साथ योग प्राप्त करने हेतु अभ्यास करते हैं । वे अपने विचार से नहीं, बल्कि साधन बल से चित्त वृत्ति निरोध कर आत्म दर्शन करने का प्रयत्न करते हैं ।

(३) भक्त का साधनः जिसकी विचार शक्ति अत्यन्त कम है परन्तु श्रद्धावान् है । जो संसार से अत्यन्त न तो आसक्त हुआ है और न विरक्त है । ऐसा व्यक्ति भाव प्रधान होने से वह भक्ति मार्ग का अधिकारी है । भक्त किसी इष्ट मूर्ति का सहारा ले उसमें सर्व शक्तिमान, सर्वेश्वर, सर्वज्ञता आदि विशेषणों का आरोपण करता है । निराकार ब्रह्म को ही सगुण रूप मान बहुरूपियों के समान विभिन्न नाम, रूप का वेश धारण करा अपने मन-

कल्पित गुड़े-गुड़ी के खेलवत नाटक करता रहता है । इस प्रकार भक्त भावना द्वारा भगवान का निरन्तर स्मरण करते रहने पर उसका मन भगवान के आकार में परिणत हो दृढ़ अभ्यास के फलस्वरूप वह अन्त में उसी समष्टि चेतन परमात्मा में अपने व्यष्टि भाव को लय कर देता है । यही उसकी गोपियों वाली सहज समाधि अवस्था है । ज्ञानी के समान भक्त भी भगवान के यथार्थ स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर लेता है अर्थात् उसकी आत्मा जिसको ''मैं'' ''मैं'' कर जानता है , कहता है, बताता है, वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप भगवान ही है ऐसा तत्त्व ज्ञान द्वारा अनुभव करता है । गोपी भी रास करती हुई ''कृष्ण एवांह''(मैं कृष्ण ही हूँ) इस प्रकार से एकत्व अनुभव करती थी । वस्तुतः भक्त जिस भगवान् की उपासना करता है वह भगवान उसकी आत्मा से भिन्न सत्ता वाला नहीं है । अज्ञानता से भक्त देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण में मैं पने का अभिमान कर इन देहादि संघात के प्रेरक निजात्म स्वरूप को ही ईश्वर या भगवान के रूप में भजता है ।

जो भक्त भगवान की प्रतिमादि स्थूल आकार में ही आसक्त रहता है एवं उस प्रतिमा को भी आत्मा से भिन्न तत्त्व मानकर उसकी पूजन, उपासना, आराधना, भक्ति करता है वह युक्ति शून्य, प्रमाण शून्य, नितान्त तुचछ वस्तु में स्थित(लिप्त) रहने कारण उसका वह ज्ञान, तामस ज्ञान ही समझना चाहिये । जो उसे संसार बन्धन से मुक्त तो नहीं करापाता है बल्कि और अधिक संसार बन्धन को ही दृढ़ करा देता है ।

सारांश यह है कि जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञानी, योगी, भक्त, अद्वैत आत्म दर्शन कर सकता है एवं जिस ज्ञान से सर्व संसार के कारण मूल अज्ञान का नाश करके मोक्ष को प्राप्त हो सकता है, वही सात्विक ज्ञान है । इस वेदान्त ज्ञान की प्राप्ति हेतु मुमुक्षु साधन चतुष्टय होकर सद्गुरु के निकट पहुँच वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वयं प्रकाश, सर्व प्रकाशक, असंग, निष्क्रिय, निर्विकार, व्यापक, अद्वय, अखंड, सच्चिदानन्द, स्वरूप, अविनाशी आत्मा को जानने की चेष्टा करना ही

कर्तव्य है ।

सभी व्यक्ति न विचार प्रधान, न बल प्रधान, न भाव प्रधान ही है । अतः जो विचार प्रधान है वे वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप अन्तरंग साधन द्वारा सीधे मोक्ष (सद्यो मोक्ष) के अधिकारी है । जो साधन बल की प्रधानता रखते हैं तथा जो भाव प्रधान है वे दोनों ही प्रकार के साधक अपने योग एवं भक्ति साधन को अपना कर चित्त शुद्धि एवं एकाग्रता प्राप्त कर क्रमिक मुक्ति के अधिकारी बनकर अपने योग एवं भक्ति साधन बल से ब्रह्मा लोक में जाकर वहाँ तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर ही मोक्ष पाते हैं ।

प्रश्न-१०२ : आत्मा कैसी है ? कहाँ है ? कैसे लक्षण वाली है ? कैसे प्राप्त होती है ?

उत्तर : आत्मा के सद्भाव में, अस्तित्त्व बोध में और उसकी प्राप्ति होती है या नहीं इत्यादि व्यर्थ के ज्ञान में समय नष्ट नहीं करना चाहिये । क्योंकि आत्मा ''मै'' का लक्ष्य होने से स्वतः सिद्ध है । मैं नहीं हूँ ऐसा कोई नहीं कहता है । मैं हूँ ऐसा ज्ञानी अज्ञानी सबको ही अनुभव होता ही रहता है । अतः आत्मा सबको नित्य निज रूप में, मैं रूप में प्राप्त ही है । यदि आप सोचें कि बिना देखे, इन्द्रिय द्वारा बिना जाने, बिना प्रत्यक्ष किये हम कैसे आत्मा का होना मान ले ? तो इस विषय में यही कहना है कि जब निराकार दिशा (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण) वर्ष (१९७७ या २०३०) मास (जनवरी, फरवरी, चैत्र, वैषाख) तिथि(एकादशी, चतुर्थी, पूर्णिमा) दिन (सोम, मंगल) आदि का भी ज्ञान शास्त्र और आचार्य के उपदेश से मान लेते हैं, कि आज अमुक दिन, अमुक तिथि, अमुक मास,अमुक वर्ष या यह अमुक दिशा है तो फिर स्वतः सिद्ध सबका अपना आप नित्य प्राप्त आत्मा का ज्ञान शास्त्र और आचार्य के उपदेश से भी बिना शंका के क्यों नहीं मान लेते हो ?

आत्मा की चेतना के द्वारा ही अपने होने व अन्य के होने को जाना जाता है । जिसने स्वप्न देखा, जो सुख से सोया, वही मैं जागता हूँ । इस

प्रकार के अनुभव करने वालों को देह, इन्द्रिय, तथा स्वप्न, सुषुप्ति आदि का भेद होने पर भी समस्त भेदों का ज्ञाता आत्मा एक है । आत्मा का बुद्धि, देह आदि से भेद तथा आत्मा सर्व का ज्ञाता है । यह जानकर भी आत्मा कौन है ? उसका ज्ञान कैसे होता है ? यह कहना एक समझदार व्यक्ति के लिए शोभनीय बात नहीं है । जिसके प्रकाश से जीव बाहर-भीतर जानता है उसको हम नहीं जानते या उसका हमें ज्ञान नहीं होता, यह कहना अत्यन्त दुराग्रह, मूढ़ता का ही है । क्षेत्र शरीर को जो जानता है उसे ही क्षेत्रज्ञ शरीरी (आत्मा) कहते हैं । वही मैं हूँ । अस्तु ज्ञान स्वरूप सर्वत्र नित्य प्राप्त सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा मैं हूँ । यहाँ, अभी, ज्यों का त्यों पूर्ण रूपेण विद्यमान ही हूँ ऐसा निश्चय ही कर्तव्य है । आत्मा को अन्य जड़ पदार्थ की तरह कहीं जाकर ढूंढ़ना नहीं है ।

प्रश्न-१०३ : स्वयं प्रकाश के ज्ञान के लिये क्या साधन करना कर्तव्य है ?

उत्तर : स्वयं प्रकाश ब्रह्म ज्ञान के लिए किसी प्रकार का साधन या प्रयत्न करना कर्तव्य नहीं है । केवल हमारी बुद्धि में जो ब्रह्म के प्रति अज्ञान के कारण देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, आदि के धर्मों में मेरे पने का अध्यारोप किया गया है, उस अविद्या का सद्गुरु द्वारा निराकरण(अपवाद) कराना मात्र ही कर्तव्य है । क्योंकि ब्रह्म सभी का आत्मा होने के कारण उसे जानना पाना तो किसी के लिये भी शेष नहीं है । शास्त्रों में ब्रह्म को सर्वात्मा, साक्षी, द्रष्टा, सुविज्ञेय, अति समीप और सबका अपना आप कहा गया है । ब्रह्म सबके द्वारा ''मैं'' इस प्रकार कहने का लक्ष्य पदार्थ है । तथापि वह विवेक रहित, अशुद्ध अन्तःकरण वाले अज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि में अविद्या कल्पित नाम, रूप, के भेद से, भ्रमित हो जाने के कारण आत्म स्वरूप ब्रह्म सुप्रसिद्ध भी अप्रसिद्ध, सुविज्ञेय भी अविज्ञेय या दुर्विज्ञेय, अति समीप भी अति दूर और स्वयं होकर भी दूसरा-सा, अपने से भिन्न प्रतीत हो रहा है । परन्तु सद्गुरु की कृपा से विश्व प्रपंच को जिसने मिथ्यात्व निश्चय कर लिया

है एवं जिसकी बुद्धि, नाम, रूप बाह्य विषय भेद के आकार से निवृत्त होकर अस्ति, भाति, प्रिय रूप अधिष्ठान आत्म सत्ता में स्थित हो गई है, उसके लिए आत्म ज्ञान से अधिक सुप्रसिद्ध, सुविज्ञेय, सुख स्वरूप और अत्यधिक समीप कुछ भी नहीं है । जैसे अपने शरीर को जानने के लिए अन्य प्रयत्न एवं प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है वैसे ही आत्मा उससे भी अधिक अन्तरतम(नजदीक) होने के कारण आत्मा को जानने के लिए किसी अन्य कर्तव्य या प्रमाण की आवश्यकता नहीं है ।

केवल गुरु प्रसाद, शुश्रूषा के द्वारा जब गुरु अत्यन्त परितुष्ट होते हैं तब उनका हृदय करुणा से पूर्ण होकर स्वतः ही ''मेरा यह शिष्य परमार्थ तत्त्व को धारण करने में समर्थ हो जाय'' इस प्रकार की गुरु की भावना ही प्रसाद कृपाकांक्षी है । 'मोक्ष मूलं गुरु कृपा । गुरु कृपा केवलम् ।

प्रश्न-१०४ : ब्रह्म प्राप्ति क्या स्वरूप है ? तथा कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर : सूर्य जिस प्रकार दिन में विद्यमान रहने पर भी बादल आवृत रहने से प्रतीत नहीं होता है । एवं जब मेघ वायु वेग द्वारा हट जाते हैं तब वह सूर्य ज्यों का त्यों प्रकट रूप से प्रतीत होने लगता है । बादलों के हटने से किसी नूतन सूर्य की प्राप्ति नहीं होती है । इसी प्रकार ब्रह्म प्राप्ति या आत्म स्वरूप के अवलम्बन में बाह्य नाना प्रकार की भेद बुद्धि की निवृत्ति ही प्रयोजनीय है । अद्वैत ब्रह्म में भेद बुद्धि ही आवरण है । जब सद्गुरु की कृपा से वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन के परिणाम स्वरूप संशय, असम्भावना, विपरीत भावना आदि विकल्पों से रहित होकर भली भाँति आत्म स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है । तब वह इस स्वात्मरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध,, मुक्त, सच्चिदानन्द, निर्विकार, निष्क्रिय, अद्वितीय, पर ब्रह्म में, ''यही मैं हूँ'' ऐसी आत्म बुद्धि करता है । ऐसी आत्म बुद्धि करना ही विद्वान् की ब्रह्म प्राप्ति है । धन की प्राप्ति की तरह ब्रह्म की प्राप्ति नहीं कही जाती है । जैसे अपने पीठ पर बन्धे बालक को भूलकर कोई महिला दुःखी होती है एवं पीठ पर हाथ पहुँचते ही

उसकी प्राप्ति का अनुभव कर प्रसन्न हो जाने की तरह ही ब्रह्म की प्राप्ति कही जाती है । इसी प्रकार अज्ञान के कारण स्व-स्वरूप आत्मा को आत्मा रूप से न जान अन्यथा रूप से जानना एवं ब्रह्म विचार द्वारा पुनः स्वाभाव का (आत्म बुद्धि का) अवधारण करना ही ब्रह्म प्राप्ति है । वास्तव में तो-

पाया कहे सो बावरा खोया कहे सो क्रूर ।
पाया खोया कुछ नहीं ज्यों का त्यों भरपूर ।।

क्योंकि प्राप्तव्य ब्रह्म का देश, काल, से और स्वरूप से व्यवधान(दूरी) नहीं है । ''अयमात्मा ब्रह्म'', ''अहमात्मा'' अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है इस न्याय से आत्मा ब्रह्म स्वरूप होने से प्राप्त की प्राप्ति नहीं कही जा सकती है । केवल अज्ञान से अपने को ब्रह्म स्वरूप न जानकर गुरु के प्रसाद (प्रसन्नता कृपा) से प्राप्त विज्ञान द्वारा उस अज्ञान की निवृत्ति कर ब्रह्म में आत्म बुद्धि करना ही कर्तव्य है ।

ब्रह्म बाह्य वस्तु की तरह प्राप्त करने जैसी वस्तु नहीं है । शरीर के अणु-परमाणु में विद्यमान हुए चिदानन्द स्वरूप आत्मा को भूलकर जीव असंख्य जन्मों तक उस आनन्द का अनुसंधान करता रहता है । यदि वह जीव गुरु उपदेश द्वारा अर्न्तमुख होकर वेदान्त श्रवण, मननादि साधन बल से अज्ञान की निवृत्ति कर उस आत्मा को मैं रूप से जान लेता है तब इसे ही ब्रह्म प्राप्ति कहा जाता है । भिन्न रूप से परमात्मा को न जाना जाता है और न प्राप्त ही किया जाता है । क्योंकि जिससे सब प्रमाणों का प्रामाण्य सिद्ध होता है तब सम्पूर्ण प्रमाणों के प्रमाण्य की सिद्धि के कारण भूत उस स्व प्रकाश आत्मा का कौन प्रकाश करेगा ? अर्थात् स्वयं सिद्ध परमात्मा किसी से प्रमाणित नहीं होता है । अचेतन-चेतन का प्रकाशक नहीं हो सकता है । अपने होने का आप ही प्रमाण है । देह, प्राण, इन्द्रिय, मन आदि जड़ संघात् चेतन आत्मा को प्रमाणित नहीं कर सकते हैं ।

अज्ञान से आरोपित देह, इन्द्रिय, मनादि अनात्म प्रत्ययों से आत्मा

इस प्रकार आवृत-सा प्रतीत होता है जैसे शैवाल से जल, या नेत्र सम्मुख मेघ पटलों से सूर्य या चन्द्रमा आवृत रहते हैं । ज्ञान को अज्ञान ने ढक रखा है इसलिए पंडित भी सैकड़ों बार श्रवण और मनन करके भी अनादि अविद्या की वासना से जो ब्रह्म बाहर-भीतर परिपूर्ण है नहीं जान पाते हैं । किन्तु परमात्मा अति सूक्ष्म अतीन्द्रिय होने से उसे आत्मा रूप से न जानकर जड़ प्रतिमा रूप एवं स्थूल अनात्म देह को ही मैं रूप से ग्रहण करते हैं । किन्तु उनकी बुद्धि में मैं देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण धर्मा नहीं हूँ बल्कि इनसे विलक्षण इनका द्रष्टा आत्मा हूँ इस प्रकार का शुद्ध निश्चय नहीं हो पाता है । इसलिए सद्गुरु के द्वारा अनादि अविद्या का नाश कर ''यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ'' इस प्रकार की सर्वत्र ब्रह्म अनुभूति करना चाहिए । ''सियाराम मय सब जग जानी ।'' सर्वदा निदिध्यासन द्वारा ब्रह्म प्रत्यय की आवृत्ति से विपरीत प्रत्ययों के निःशेष होने पर ब्रह्म उसी प्रकार अनुभव रूप हो जाता है जैसे शैवाल के निवृत्त होने पर स्वच्छ सुखकर जल तथा मेघ के हट जाने पर सूर्य, चन्द्र का दर्शन होता है । उसी प्रकार अज्ञान की निवृत्ति से शान्त, आनन्द घन, आत्मा, ज्ञान रूप चक्षु का भलीभाँन्ति विषय (अनुभव) होता है । इसलिए मुमुक्षु को आत्मा के स्वरूप को ढ़कने वाले अनात्म प्रत्यय के त्याग करने में ही प्रयत्न करना है ।

प्रश्न-१०५ : किसी भी वस्तु के ज्ञान में सत तथा असत् दो प्रकार की बुद्धि साथ उत्पन्न होने पर भी असत् बुद्धि के नाश हो जाने पर सत् बुद्धि का नाश क्यों नहीं होता है ?

उत्तर : सभी प्रकार के व्यवहार के समय सद्बुद्धि तथा असत् बुद्धि यह दो प्रकार की बुद्धि साथ ही उत्पन्न होती है उसमें भी पहले सत् बुद्धि(है) प्रथम तथा नाम, रूप असत् वस्तु, बुद्धि बाद में प्रतीत होती है । जिस मूल वस्तु के विषय में ज्ञान का कभी अभाव नहीं होता उसे ही सत् कहा जाता है, जिस नाम, रूप, वस्तु के विषय में ज्ञान का समभाव नहीं पाया जाता है याने कभी रहता है कभी नहीं रहता है वह असत् कहलाता है ?

"घट है, मठ है " इन दो बुद्धियों में घट विषयाकार जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह अन्य मठ, पटादि वस्तु को विषय करने के काल में नष्ट हो जाती है । तब घट के स्थान की जगह पट, मठ, मनुष्यादि की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है । किन्तु "घट है" इस ज्ञान में जो घट, रूप, असत् बुद्धि से विलक्षण जो "है" रूप, सत्, बुद्धि होती है वह तो कभी भी नष्ट नहीं होती है । अर्थात् घट, पटादि न रहने पर कुछ अन्य वस्तु, व्यक्ति, विचार की बुद्धि रह जाती है । अतः घट, पट आदि बुद्धि के विषय में जो घट, पट आदि बुद्धि है वह असत् है क्योंकि उनका व्यतिरेक(व्यभिचार) आपस में है । घट है, तब पट नहीं है, पट ह तब घट बुद्धि नहीं है । किन्तु सद्बुद्धि "है", अस्ति वह कभी असत् नहीं हो सकती है । जैसे घट 'है', पट 'है', मनुष्य "है", हाथी 'है', इत्यादि में 'है' समान रूप से विद्यमान ही रहता है ।

एक ही स्व प्रकाश, नित्य, विभू, सद् वस्तु समस्त पदार्थों में अनुस्यूत(व्याप्त) होने के कारण उसका भेद नहीं है । क्योंकि किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान होने के साथ-साथ पहले 'है' 'सत्' की प्रतीति होती है । "कुछ है" यदि प्रथम इस प्रकार किसी वस्तु का सामान्य रूप से दर्शन न हो तो "वह क्या है" ऐसी विशेष प्रतीति या वह क्या है ऐसा जानने को अभिरुचि भी नहीं हो सकती है ।

जिसका किसी प्रकार परिच्छेद(सीमा) नहीं है, जिसका किसी देश में, किसी काल में, किसी वस्तु में व्यभिचार नहीं होता है, अर्थात् जो सर्व काल में, सर्व देश में, सर्वत्र व्याप्त(अनुगत) है उसे पारमार्थिक सत् पदार्थ कहा जाता है । तथा जो देश, काल, वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न होने के कारण व्यभिचारी होता है अर्थात् जो किसी स्थान में, किसी काल में, किसी खास रूप में रहता है अन्य सब देश, काल, वस्तु रूप में नहीं रहता है वह असत् है जैसे जो जगत् जाग्रतावस्था में है वह स्वप्नावस्था में नहीं है एवं जो स्वप्नावस्था में है वह जाग्रत एवं सुषुप्ति अवस्था में नहीं है किन्तु मैं सब

अवस्था में है ।

अहं पदार्थ जो मनुष्य का मैं-मैं रूप में सदा ही उच्चारित होता रहता है उस मैं(अहं) का लक्ष्य वस्तु शुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्मा ही एकमात्र सत्य है । घट, पट इत्यादि वस्तु नष्ट होने से भी सत् बुद्धि 'है' का लोप नहीं होता है । जगत् के समस्त भावाभाव रूप वस्तु ज्ञान में सत् बुद्धि याने 'है' बुद्धि उन पदार्थों के होने या न होने में भी अधिष्ठान ''है'' रूप में तो रहता ही है । इस ''है'' बुद्धि को आश्रय करके ही समस्त व्यवहार होता है । करोड़ों वस्तुओं विषयों के बदलते रहने पर भी सभी विषय ज्ञान में ''है'' यह बुद्धि ज्ञान अखंड रूप से विद्यमान ही रहता है । सबके मूल में अनुगत(व्याप्त) जो 'सत्' है वह सदा एक ही रूप में ही रहता है । अर्थात् 'है' 'है'(सत्-सत्) ऐसी समान प्रतीति सर्वत्र होती रहती है । जब समस्त दृश्य विलय होकर समाधि अवस्था हो जाती है तब भी ''अहमस्मि'' अर्थात् ''मैं'' ''हूँ'' इस बोध का लोप नहीं होता है ।

वस्तुओं के नाम, रूप, क्रिया असत् है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति तथा विनाश होता है, किन्तु सभी वस्तु में सच्चिदानन्द सत्ता अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय समान रूप से अनुस्यूत(व्याप्त) है । जैसे किसी वस्तु ज्ञान में वस्तु है इस प्रकार कथन से सत् रूपता, वह प्रकाशित हो रही है इस प्रकार चित्त रूपता, एवं वह किसी न किसी के लिये उपयोगी होने से प्रिय भी है इस कथन से आनन्द रूपता प्रकट हो रही है । इस प्रकार सभी वस्तु में असत् बुद्धि के नष्ट होने पर भी ''सच्चिदानन्द बुद्धि'', ''है बुद्धि'' का नाश नहीं होता है ।

प्रश्न-१०६ : विषय ज्ञान के उत्पन्न नाश के साथ अनुभूति का उत्पन्न नाश होता है या नहीं ?

उत्तर : भिन्न-भिन्न विषय वस्तु के बोध में अनुभूति तो सदाकाल सभी विषयों में अखंड ही बनी रहती है । अनुभूति अर्थात् सत्य ज्ञान, विषयों के

बदलने के साथ नष्ट नहीं होता है ।

"एक अखंड ज्ञान सीतावर"

भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान के साथ सम्बन्ध उत्पन्न होता है तथा नाश होता है । विषय सम्बन्धों की ही उत्पत्ति तथा नाश होता है किन्तु ज्ञान का नाश नहीं होता है । विषय बदलने या नष्ट हो जाने से उसका ज्ञान भी यदि नष्ट हो जाता तो एक जानी वस्तु पुनः समय पर सन्मुख होने पर नहीं जान पाते । अनुभूति के जो उत्पत्ति तथा विनाश दिखाई पड़ते हैं, वह विषय रूपान्तर से ही भ्रान्ति हो रही है । जिस विषय से सम्बन्धित होकर अनुभूति होती है कि यह घट है, यह पट है, यह मठ है, यह मनुष्य है, इस प्रकार विषयान्तर से विषय सम्बन्ध की ही उत्पत्ति तथा विनाश होने के कारण, ज्ञान का(अनुभूति का)भी उत्पत्ति तथा नाश अज्ञानता से प्रतीत होता है । जैसे नदी यात्रा से नौका आरूढ़ नदी किनारे के अचल मकान, पहाड़, वृक्षादि का भी अपने साथ मन्द, तीव्र गति से चलना भ्रांति से देखते हैं । इस प्रकार घट ज्ञान, पट ज्ञान, मठ ज्ञान, आदि में घट, पट आदि वस्तुओं के विशेष गुणों का ही परस्पर भेद है ज्ञान एक अखंड ही है जो नाना विषयों के रूप में भासित होता रहता है । याने घट, नाम रूप से, पट नाम रूप भिन्न है, पट से मठ भिन्न है, किन्तु ज्ञान का (जानने की शक्ति का) कोई भेद नहीं है । शब्द ज्ञान,स्पर्श ज्ञान, रूप ज्ञान, रस ज्ञान, गंध ज्ञान में इन्द्रिय का ही भेद होता है किन्तु ज्ञान शक्ति सब में एक ही विद्यमान रहती है । घट ज्ञान का नाश होकर, पट ज्ञान की उत्पत्ति हुई है । इस प्रकार घट, पट आदि के साथ अनुभव(ज्ञान) का जो सम्बन्ध रहता है उस सम्बन्ध का ही नाश तथा उत्पत्ति होती है, किन्तु सब में व्याप्त अनुभव रूप विशेष्य का नाश नहीं होता है ।

प्रश्न-१०७ : अन्तःकरण, इन्द्रिय तथा विषयों से आत्मा अति श्रेष्ठ सूक्ष्म तथा बलवान है यह कैसे जाना जा सकता है ?

उत्तर : साधारणतः अज्ञानीजन यह समझते हैं कि विषय वासना(काम, इच्छा) को जीतना अति दुर्लभ बात है । क्योंकि यह बड़ी बलवती है । परन्तु यह भूल धारणा उन्हें अपने यथार्थ आत्म स्वरूप के अज्ञान से ही उत्पन्न होती है । वास्तव में तो आत्मा ही सर्व श्रेष्ठ, अति सूक्ष्म एवं महान है ।

स्थूल बुद्धि द्वारा ऐसा ज्ञात होता है कि शरीर तथा इन्द्रियों की अपेक्षा विषय श्रेष्ठ एवं बलवान है । जो अपनी ओर इन्द्रिय सहित शरीर को आकर्षित कर लेता है । शरीर भी इन्द्रियों सहित विषयों के पीछे दौड़ता रहता है, किन्तु ऐसा सोचना उचित नहीं है । विषय दृश्य हैं, इन्द्रियाँ द्रष्टा है । विषय ग्राह्य है, इन्द्रियाँ ग्राहक है । विषय जड़ है, इन्द्रियाँ चेतन है । विषय पराधीन है, इन्द्रियाँ स्वतन्त्र है । इन्द्रियाँ चाहे तो विषय ग्रहण करती है अन्यथा उनकी ओर द्रष्टिपात् भी नहीं करती है एवं ग्रहण कर भी त्याग देती है । बिना इन्द्रियों के आश्रय लिये विषय स्वतः भोक्ता का भोग नहीं बन सकते है, जब तक कि भोक्ता स्वयं उन्हें न चाहे ।

पुनः इन्द्रियों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ, सूक्ष्म तथा बलवान है । इन्द्रियाँ मन की दृश्य है । मन के अधिन होने से ये परतन्त्र है, मन स्वतन्त्र एवं द्रष्टा है । जीव की प्रेरणा से मन द्वारा विषयों का संकल्प होने पर ही इन्द्रियाँ उन विषयों को ग्रहण त्याग कर सकती है । बिना मन के संकल्प किये आँख की पुतली भी दाँये से बाँये नहीं घूम सकती है ।

पुनः मन की अपेक्षा बुद्धि उससे भी अधिक श्रेष्ठ स्वतन्त्र, सूक्ष्म, बलवान, चेतन, द्रष्टा है । किसी विषय को ग्रहण करने या किसी कार्य को करने के लिए मन अनेकों युक्तियाँ तथा कल्पना करता है । परन्तु बुद्धि उनमें से किसी एक उपाय को निश्चय कर दूसरों का त्याग कर देती है, तब मन, बुद्धि के निश्चय के विपरीत नहीं कर सकता है । इसलिए बुद्धि की स्वाधीनता, श्रेष्ठता, सूक्ष्मता, चेतनता मन की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है

।

पुनः एक शरीर की व्यष्टि बुद्धि से, समष्टि बुद्धि(सब शरीरों की संग्रहित बुद्धि महानात्मा, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा) श्रेष्ठ है । फिर इसकी भी प्रकाशिका, कारणात्मक अव्यक्त ब्रह्म की माया शक्ति(संसार की बीज रूपा शक्ति) श्रेष्ठ है । और इस माया का भी अधिष्ठान सर्व प्रकाशक, स्वयं प्रकाश, चैतन्य, कूटस्थ, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तात्मा मैं सर्व श्रेष्ठ है । ''साकाष्ठा सा परागति'' यही सभी की अन्तिम सीमा एवं सभी जीवों की परम गति है । इससे श्रेष्ठ बलवान, व्यापक, सूक्ष्म, महान्, कोई नहीं है । यह महान् से भी महान् है ।

प्रश्न-१०६ : काम शत्रु को जय कैसे किया जा सकता है ?

उत्तर : शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पंच प्रकार के विषयों की या इनमें से किसी एक, दो, तीन, चार, विषयों को ग्रहण करने या भोगने की इच्छा को ही काम, नाम से कहा जाता है । जब तक देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण में आत्म बुद्धि भ्रमवश माने रहते हैं, तब तक ही अनात्म विषयों के प्रति भोग्य बुद्धि उदय होती रहती है । याने यह भोग सुन्दर आनन्दप्रद है, और मुझे इसे प्राप्त कर भोगना चाहिये । परन्तु जब जीव निष्काम कर्म द्वारा चित्त शुद्धि प्राप्त कर आत्मा को जानने की जिज्ञासा हेतु गुरु के निकट पहुँच तत्त्व ज्ञान को धारण कर लेता है । तब अपने सच्चिदानन्द असंग, व्यापक, अखंड, निर्विकार, निष्क्रय आत्म स्वरूप को ''यह सब और 'मैं' ब्रह्म ही हूँ'' इस प्रकार निश्चय कर लेता है । फिर भोक्ता, भोग तथा भोग्य इन तीनों को ब्रह्म स्वरूप दर्शन कर लेने से द्वैत दृष्टि का अत्यन्त अभाव हो जाता है । जिसके परिणाम स्वरूप अपने से पृथक् एवं श्रेष्ठ कुछ अन्य न दिखने से भोक्ता बनकर भोग करने की कामना उदय नहीं होती है, तभी इस काम शत्रु को जय किया माना जाता है । बिना अद्वैत सत्ता के साक्षात् अपरोक्ष हुए कोई भी भेद दर्शी काम शत्रु से मुक्त नहीं हो पाता है ।

सभी के अनुभव में है कि अगर किसी शत्रु को जय करना होता है, तो उस शत्रु का जो आश्रय है, जिससे शक्ति पाकर वह शत्रु, शत्रुता कार्य करता है ; तो उससे अधिक श्रेष्ठ बलवान का आश्रय ग्रहण कर ही, उसे कोई हरा सकता है, अन्यथा नहीं हरा पाता है । विचार करने से ज्ञात होता है कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि ही काम शत्रु का आश्रय स्थान है और इन सबसे श्रेष्ठ आत्मा है । अतः इसी का आश्रय कर अर्थात् स्वयं आत्मनिष्ठा कर ही इस काम शत्रु पर विजय सरलता से प्राप्त की जा सकती है । याने आत्मा में ही आत्म बुद्धि, आनन्द बुद्धि करे कि ''यही मैं हूँ'' निश्चय करे । अपने को देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से सुख बुद्धि हटावे और देह संघात् का धर्म, मेरा है, ऐसा अनात्मा में आत्म अध्यास हटाकर ही काम शत्रु को जय करना सम्भव है ।

मैं आत्मा की सत्ता से ही जड़ स्तम्ब से ब्रह्मा पर्यन्त सत्तावान हो चेतनवत् कार्य कर रहे हैं । अतः सभी के अधिष्ठान स्वरूप चेतन सत्ता मैं आत्मा हूँ । मैं ही नित्य, सत्य, मुक्त, शुद्ध, बुद्ध, परम पुरुष हूँ । इस प्रकार जीव द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप में आत्माभिमान कर विषयों से वैराग्य कर, सर्वत्र ब्रह्म दर्शन होने से, उसके द्वारा काम शत्रु को सरलता से जय किया जा सकता है, यही सच्ची विजय है । बाहुबल या शस्त्र द्वारा बाहर के विरोधियों को परास्त कर देना, जीव की सच्ची विजय नहीं है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, निंदा आदि आन्तर शत्रुओं पर विवेक ज्ञान द्वारा विजय पाना ही सच्ची जीत है ।

अस्तु सर्वत्र ब्रह्म दर्शन होने पर ही काम को जय कर परम पुरुषार्थ परमानन्द की प्राप्ति तथा दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।

जिस मुमुक्षु की आत्म दृष्टि दृढ़ हो चुकी है उस ज्ञानी की इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती रहने पर भी उसे विषयों में राग-द्वेष

उत्पन्न नहीं होता है । वह सदा अपने को असंग, निष्क्रिय, द्रष्टा रूप ही जानता रहता है । (गीता ३/२८ तथा ५/८१ श्लोक) अज्ञानी देहात्म बुद्धि वाले को ही इन्द्रिय विषयों में भोग्य बुद्धि होने से ग्रहण त्याग में राग-द्वेष उत्पन्न होता है । विषय बन्धन रूप नहीं है, उनमें अहंकार एवं राग-द्वेष होना ही बन्धन है । गीता ३/२७ ।

प्रश्न-१०९ : तत्त्व ज्ञान के द्वारा जीव के कितने प्रकार के भ्रम निवृत्त हो जाते हैं ?

उत्तर : तत्त्व ज्ञान के द्वारा(क) अविद्या ग्रन्थि (ख) अब्रह्मत्व (ग) हृदय ग्रन्थि (घ) संशय जाल (भ) कर्म कलाप (च) असर्वकामता (छ) जन्म-मृत्यु इत्यादि सभी प्रकार के भ्रमों की निवृत्ति हो जाती है । अविद्या से ही समस्त भ्रम ब्रह्म में आरोपित हुए है । अतः अविद्या नाश होने से सभी बन्धनों की आत्यान्तिक निवृत्ति हो जाती है और उनकी फिर उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है । एक बार भली प्रकार तत्त्व ज्ञान हो जाने के बाद फिर उसका विनाश नहीं होता है । मनोनाश, वासना क्षय, तो दृढ़ रूप अभ्यास न होने पर प्रारब्ध भोग से बाधित हो जाते हैं, पर ज्ञान नष्ट नहीं होता है । श्रुति भी कहती है-जैसे

(क) ''यो वेदानिहितं गुहायां सोऽविद्या ग्रन्थिं विकिरतीह सौम्य'' अर्थात् जो व्यक्ति इस हृदयाकाश में स्थित आत्म तत्त्व को जानते हैं, वे इस लोक में अविद्या ग्रन्थि को काट देते हैं ।

(ख) ''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'' अर्थात् जो ब्रह्म को जानते है वे ब्रह्म ही हो जाते हैं ।

(ग) भिद्यते हृदय ग्रन्थि छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

अर्थात् कारण हिरण्यगर्भ तथा कार्य रूप जीव सृष्टि, इन सभी के अधिष्ठान भूत आत्म तत्त्व(परमात्मा) का साक्षात्कार होने पर जीव की हृदय

ग्रन्थि अविद्या की गाँठ खुल जाती है । सभी संशय दूर हो जाते हैं । कर्म समद्भव नष्ट हो जाता है ।

(घ) ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' ''यो वेदनिहितं गुहायाँ परमे व्योमन्'', ''सोऽश्नुते सर्वान कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति'' अर्थात् ब्रह्म सत्य तथा अनन्त स्वरूप है, हृदयगुहा में स्थित परम आकाश स्वरूप उस ब्रह्म को ''यह मैं ही ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार जो जानते हैं, वे समस्त कामनाओं को एक साथ ही प्राप्त हो जाते हैं । ऐसे वचनों द्वारा जीव के असर्वकामत्व संशय का नाश हो जाता है ।

(ङ) ''तमेव विदित्वाति मृत्युमेति'' अर्थात् जीव आत्मानुभूति कर मृत्यु को पार करते हैं, अर्थात् मृत्यु भ्रम दूर हो जाता है ।

(च) ''यस्तु विज्ञानवान भवत्यमनस्कः सदा शुचिः ।
सतु तत् पद्माप्नोति यस्मात् भूयो न जायते ॥''

अर्थात् तत्त्व ज्ञानी के मनो नाश हो जाने से पुर्नजन्म नहीं होता है । भेद दृष्टि अपवित्र दृष्टि है । तत्त्व ज्ञानी अभेदर्शी सदा पवित्र है ।

(छ) ''य एवंवेदाह'' ब्रह्मास्मीति स इदं सर्व भवति'' ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा जो तत्त्व ज्ञानी जानते हैं, वे सर्व हो जाते हैं । इस प्रमाण से असर्वत्व के भ्रम की निवृत्ति हो जाती है ।

इस प्रकार तत्त्व ज्ञान द्वारा बन्धन के हेतु भूत अविद्या का नाश होने से उपरोक्त तथा अन्यान्य समस्त भ्रमों की सदा के लिए निवृति हो जाने से जीव मुक्त हो जाते हैं ।

प्रश्न-११० : वासना कितने प्रकार की होती है, तथा मुमुक्षु को किन वासनाओं के कारण मुक्ति की अनुभूति नहीं हो पाती हैं ?

उत्तर : वासना दो प्रकार की मूल रूप से मानी जाती है । मलिना तथा शुद्धा । शुद्ध वासना दैवी सम्पत् है, जो तत्त्व ज्ञान लाभ के साधन रूप से

एक प्रकार की ही है, किन्तु मलिना वासना तीन प्रकार की होती है (क) लोक वासना (ख) शास्त्र वासना और (ग) देह वासना ।

(क) लोक वासनाः- कोई भी मनुष्य मेरी निन्दा न करे, इस प्रकार का मैं आचरण करूँ, इस प्रकार असाध्य विषय के लिये अभिनिवेश(आग्रह) को लोक वासना कहा जाता है । जगत् के सभी जीवों को प्रसन्न करना किसी भी मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है । और न ऐसे किसी कार्य का शास्त्रों में निरूपण ही किया गया है, जिसके सम्पादन करने से जगत् को प्रसन्न किया जा सकता है । यदि ऐसा सम्भव हो जावे तब भी बिना ज्ञान किसी कर्म द्वारा जीव के परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है । भगवान राम को लोक वासना होने से धोबी के सन्देह के कारण सीता का परित्याग करना पड़ा था ।

(ख) शास्त्र वासनाः- तीन प्रकार की होती है । (१) पाठ व्यसन (२) बहुशास्त्र व्यसन (३) अनुष्ठान व्यसन ।

(१) वेद शास्त्रादि ग्रन्थों के तात्पर्य को ग्रहण किये बिना समस्त शास्त्रों को पढ़ते रहना पाठ व्यसन कहलाता है । भारद्वाज मुनि पाठ्य व्यसनी थे । (२) दुर्वासा को बहुशास्त्र व्यसन था । शास्त्र अनन्त हैं उन्हें अनन्त जन्मों में भी समाप्त नहीं किया जा सकता है फिर भी समस्त शास्त्रों को पढ़कर उनके भेदों एवं उनमें प्रतिपादित विषय वस्तु को जानने की जिज्ञासा मुमुक्षु हेतु वाणी एवं मन का श्रम मात्र है । ऐसा बहुशास्त्र व्यसन दुर्वासा को था । गुरु उपदिष्ट कुछ चुने हुए शब्दों का चयन कर उन्हीं का दृढ़ निष्ठा हेतु मुमुक्षु या अदृढ़ ज्ञानी अभ्यास करे, अन्य का नहीं । (३) कर्म अनुष्ठान याने शास्त्रोक्त कर्मों के अनुष्ठान में ही आग्रह होना एवं ब्रह्म चिन्तन में श्रद्धा का न होना । निदाघ मुनि को उनके गुरु ऋभुदेव ने बहुत श्रम करके कर्मानुष्ठान से निवृत्त कराया था । उक्त तीनों प्रकार की वासनाएँ ही मलिन हैं, क्योंकि मोक्ष के लिए अनुपयोगी है । मैं बहुत कर्म कर चुका हूँ, और

अब मैं अमुक कर्म करूँगा । ऐसे कर्म अनुष्ठान करने वालों में अहंकार की वृद्धि होती रहती है, जो उनके पुर्नजन्म का कारण है ।

(ग) देह वासनाः- तीन प्रकार की है-(१) आत्मत्व भ्रान्ति (२) गुणाधान भ्रान्ति और (३) दोषापनयन भ्रान्ति ।

(१) देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण अनात्मा में मैं पने की भ्रान्ति आत्मत्व भ्रान्ति है । विरोचन, हिरण्यकश्यपादि में यह देहाभिमान था । प्रजापति द्वारा आत्मतवोपदेश करने पर भी विरोचन ने देह को ही आत्मा जाना था और यह भ्रम सार्वजनिक है अर्थात् सभी को यह भ्रम देखा जाता है ।

(२) गुणधान (गुणों का आरोप) दो प्रकार का है । लौकिक तथा शास्त्रिय । सुन्दर कहलाने हेतु नकली बाल, इत्र, पावडर, क्रीम, उपटन, मेंहदी, लाली, अलंकार, वस्त्रादि एवं सुन्दर शब्दादि का प्रयोग करना लौकिक गुणाधान है । गंगा स्नान, शालिग्राम शिला की अर्चना एवं तीर्थादि में भ्रमण करना आदि सत् कर्म करना शास्त्रीय गुणाधान है । दोनों प्रकार के गुणाधान भ्रान्ति ही है । हमारे आत्म भाव को भुला देहाभिमान को दृढ़ाने वाले ही है ।

(३) दोषापनयनः-भ्रान्ति भी दो प्रकार की है । (१) लौकिक और शास्त्रिय । चिकित्सकों के द्वारा व्यवस्थापित(बतायी हुई) औषधियों के द्वारा व्याधि आदि के दूरीकरण को लौकिक दोषापनयन कहते हैं । और वेदोक्त कुम्भ स्नान, चन्द्र, सूर्य ग्रहण स्नान, पूर्णमासी स्नान, सोमवती अमवस्या स्नान तथा आचमन आदि अशुचित्वादि को दूर करने को वैदिक दोषापनयन कहते हैं । उक्त सभी प्रकार की वासनाएँ मलिन हैं, क्योंकि वे प्रमाण सिद्ध नहीं है-वे असाध्य है याने उनका पूर्ण रूप से अनुष्ठान करना असम्भव है । फिर वे करने पर भी मोक्ष में अनुपयोगी है और पुर्नजन्म के हेतु ही है ।

उक्त तीनों वासनाएँ अविवेकी व्यक्ति के लिए उपयोगी होने पर भी ये तीनों वासनाएँ विवेकी आत्म जिज्ञासुओं के लिये बन्धन रूप होने से

त्याज्य ही होता है । क्योंकि ये आत्म भावोदय में बाधक है । देहाध्यास को (देह भाव को) द्रढ़ाने वाली होने से बन्धन रूप हैं । अस्तु विवेकियों के लिए आत्मनिष्ठा की विरोधी होने के कारण सभी वासनाएँ एवं कर्म त्याज्य हैं ।

प्रश्न-१११ : उत्तम स्वस्थ्य हेतु भोजन कैसा होना चाहिये ?

उत्तर : उत्तम स्वास्थ्य हेतु योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता के छठे अध्याय के सत्रह श्लोक में बता रहे हैं:-

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

- गीता ६/१७

उक्त श्लोक में पाँच बातों पर ध्यान रखने के लिये कहा गया है- (१) आहार (२) विहार (३) कर्मों में चेष्टा या प्रयत्न (४) स्वप्न=सुषुप्ति और (५) अवबोध=जाग्रति ।

इन पाँचों विषयों में यदि मनुष्य युक्तता को पूर्ण रूप से व दृढ़ता पूर्वक अपनाले तो शरीर निरोग व स्वस्थ रह सकता है ।

सर्व प्रथम मनुष्य को अपने आहार-भोजन में युक्तता बरतनी चाहिये । भोजन का प्रभाव देह, इन्द्रिय तथा मन पर पड़ता है । अतः जैसा भोजन होगा वैसा ही मन बनता है । यदि सत्त्वगुणी भोजन ग्रहण किया गया तो मन भी सत्त्वगुणी होकर ज्ञानाधिकारी हो कर मोक्ष प्राप्त करा सकेगा । सात्विक भोजन के लिये कहा जाता है ।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याःस्निग्धाःस्थिरा हृद्या आहाराःसात्त्विकप्रियाः ॥

- गीता १७/८

अर्थात् आयु, सत्वबुद्धि, बल, आरोग्य, सुख एवं प्रीति को बढ़ाने वाले जो पदार्थ है, उन्हीं को भोजन में सम्मिलित करना चाहिये । अब इनमें

कौन से पदार्थ सम्मिलित किये जा सकते हैं, उसके लिये कहा जाता है । जो पदार्थ रस्य (रस वाले) हो, ताजा हो, सुखे न हो । दूसरे जो पदार्थ स्निग्ध(चिकने) हों, जैसे दूध, घृत, मक्खन, मिष्ठान्न आदि । तीसरे स्थिरा(स्थिर रहने वाले) अर्थात् जिनका रस शरीर को पुष्ट बनाये रखने में समर्थ हो । जैसे गेहूँ, चाँवल आदि और चौथे जो पदार्थ मन को प्रिय लगे, जिनके लिये मन में स्वभाविक रुचि हो जो स्थिर शान्ति प्रदान करने वाले हो वे ही पदार्थ खाने चाहिये ।

अब इन्हीं का आधुनिक वैज्ञानिक डॉक्टर भी समर्थन करते हुए कहते हैं कि, भोजन में मुख्यतया चार पदार्थों का यथोचित सम्मिश्रण होना चाहिये ।

(१) कार्बोहाइड्रेट (२) फैट (३) प्रोटिन (४) विटामिन्स ।

कार्बोहाइड्रेटः-अर्थात् जलीय पदार्थ यानि जिसमें जलीय भाग विशेष हो जैसे-मूली, गाजर, पालक, मेथी, पपीता ।

फैट-अर्थात् स्निग्ध पदार्थ जैसे-तेल, घृत, मक्खन, नारियल, काजु, बादाम आदि ।

मिष्ठान्न जैसे-मधु, चीनी,मीठे ताजा फल, गेहूँ, चाँवल, सूखे फल, गन्ना आदि ।

प्रोटिनः-अर्थात् पौष्टिक पदार्थ जैसे-चना, दाल, दूध, छेना अकुंरित मूंग, चना आदि ।

विटामिन्सः-ए.,बी.,सी.,डी., ई. ।

अब देखना चाहिये कि प्राचिन तथा आधुनिक पद्धति से भोजन में क्या अन्तर है ?

(१) प्रथम रस्य पदार्थ लिये गये हैं । इसका अर्थ होता है कि जिन पदार्थों में रस अर्थात् जलीय भाग विशेष रूप से वर्तमान हो जैसे-पइड़(पानी

वाला नारियल) पपीता, अंगुर, गन्ना, खरबूज, तरबूज, संतरा, मोसम्बी आदि । ये आधुनिक प्रणाली के अनुसार''कार्बोहाइड्रेट'' के अन्तर्गत आ जाते हैं ।

(२) दूसरे स्निग्ध पदार्थ लिये गये हैं । आधुनिक पद्धति में ''फैट'' के अन्तर्गत आते हैं ।

(३) तीसरे स्थिर रूप में प्रभाव करने वाले जो आधुनिक ''प्रोटिन्'' के अर्न्तगत आते हैं । जो पदार्थ हृदय को प्रसन्नता पहुँचाने वाले हैं जैसे मिष्ठान्न आदि; क्योंकि विशेषकर मनुष्यों को मिष्ठान्न ही प्रिय लगता है । अतः ये पदार्थ शुगर में माने जाते हैं ।

(४) चौथे जो पदार्थ डॉक्टरों के द्वारा दी गई आधुनिक औषधियों के माध्यम से या हरि सब्जियों के माध्यम से मिलते हैं वे ''विटामिन्स'' के अन्तर्गत आते हैं ।

इस प्रकार अर्वाचिन तथा प्राचिन दोनों सिद्धान्तों के अनुसार जो आयुवर्धक, स्वास्थ्यवर्धक हो वही लेना चाहिये । भोजन करने का ऐसा नियम है कि आधा पेट भोजन से परिपूर्ण करके, चौथाई हिस्सा जल द्वारा परिपूर्ण करें, तथा चौथाई भाग वायु के संचरण के लिये खाली रख छोड़ें ।

इस प्रकार युक्तता के साथ आहार करने वाला मनुष्य कभी अस्वस्थ नहीं हो सकता । इसी प्रकार प्रकृति अनुसार विहार, कर्म तथा निद्रा में भी युक्तता बर्तनी चाहिये ।

प्रश्न-११२ : समाधि व सुषुप्ति में क्या अन्तर है ?

उत्तर : समाधि तथा सुषुप्ति में थोड़ा सा ही अन्तर है । यदि यह अन्तर समझ में आ जाये तो फिर समाधि क्या है यह भी समझ में आ जाता है । योग सुत्रकार कहते हैं ''योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'' अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध योग कहलाता है । चित्त की वृत्तियों का लय दो स्थानों में होता

है । एक सुषुप्ति में दूसरा समाधि में । इन दोनों स्थानों में अन्तःकरण वृत्ति रहित निश्चल अवस्था में होता है यहाँ पूर्ण शान्ति का साम्राज्य रहता है । सुषुप्ति तथा समाधि दोनों अवस्थाओं में इतनी समता होने पर भी बहुत बड़ा अन्तर है । वह अन्तर यह है कि सुषुप्ति में अन्तःकरण तमोगुण से पूर्णतया ढका रहता है । तमोगुण के विद्यमान रहते हुए साधक को स्वानुभूति अर्थात् अपने शुद्ध मैं का बोध नहीं हो पाता । इस अवस्था में मनुष्य का देह बाह्य तथा भीतरी चेतना(जाग्रत स्वप्न बोध) से रहित हो अचेतन(जड़) की तरह पड़ा रहता है । क्योंकि तमोगुण का स्वभाव आलस्य, प्रमाद, मूढ़ता बढ़ाना है, जो व्यक्ति को अक्रिय बना देता है ।

समाधि में तमोगुण व रजोगुण को सत्त्वगुण दबाकर स्वयं पूर्ण रूपेण व्यक्त रहता है । चुँकि अन्तःकरण शुद्ध सत्त्व प्रधान होने से इस अवस्था में देह से पृथक् सच्चिदानन्दता का बोध होता रहता है, जिससे साधक अपने स्वरूपानन्द की मस्ति में निमग्न बना रहता है ।

जब साधक को आत्म ज्ञान अर्थात् स्वरूप बोध हो जाता है कि एक परम तत्त्व के अतिरिक्त यहाँ कुछ है ही नहीं । तब उसके लिये समाधि और सुषुप्ति में कोई अन्तर नहीं रहता । आत्म ज्ञानी तो सर्वदा व सर्वथा एक अखंड आत्म तत्त्व(मैं) का ही अनुभव करता रहता है ।

मिट्टि का खोदना तथा समाधि का लगाना तत्त्व ज्ञानी के लिये दोनों अवस्था समान है । हठ पूर्वक देह, इन्द्रिय, प्राणादि को उनके स्वभाविक धर्म से रोक बैठने का नाम समाधि नहीं है । वह तो सर्कसी, नाटकिय क्रीड़ा मात्र है । इन साधनों से स्व बोध नहीं होता है ।

प्रश्न-११३ : स्व बोध क्या है ? आत्म ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्व बोध ही का नाम आत्म ज्ञान है । स्व का अर्थ है आप, आत्मा या सरल शब्दों में युं समझिये ‘‘मैं’’ । मैं कौन हूँ ? इस विचार में ही स्व का बोध हो जाता है । साधारणतया अज्ञानवस्था में मैं का अर्थ अपनी देह

को ही मैं समझते हैं, किन्तु यह स्थूल देह कभी मैं नहीं हो सकता । क्योंकि हम देखते हैं, मृत्यु के समय किसी देह का कोई मूल्य नहीं रहता । इसे लोग जला देते हैं, गाढ़ देते हैं । यह निरर्थक, अशुद्ध, सारहीन, निस्तेज, निष्क्रिय हो जाता है, किन्तु मैं तो देह त्याग कर अन्य देह में चला जाता हूँ । इसलिए स्थूल देह मैं नहीं हो सकता ।

अब दूसरा विकल्प उठाते हैं कि क्या मैं प्राण हूँ । क्योंकि मनुष्य की मृत्यावस्था देख लोग कहते हैं, इसके प्राण-पखेरू उड़ गये, प्राण निकल गये । तब क्या प्राण ही मैं नहीं है ? किन्तु इन प्राणों में भी हम कुछ ऐसा अभाव देखते हैं, जिसके कारण प्राण मैं नहीं हो सकता हूँ । सुषुप्ति में हम अनुभव करते रहते हैं कि हमारे प्राण स्वाँस-प्रश्वाँस तो चलते रहते हैं किन्तु हम किसी प्रकार का अनुभव प्राणों को होते नहीं देखते । उनमें किसी प्रकार अनुभव करने की चेतनता नहीं रहती, क्योंकि प्राण जड़ है, परिच्छिन्न है । उत्क्रमण कर मृतक शरीर से बाहर अन्य शरीर में चले जाते हैं । किन्तु मैं तो सबका अनुभव कर्ता साक्षात् चैतन्य अपरोक्ष रूप से जानता हूँ, देखता हूँ । अस्तु मैं प्राण नहीं हो सकता ।

तीसरा विकल्प ''इन्द्रियों'' का है । यह विकल्प भी विवेक की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है, क्योंकि इन हाथ, पैर, कान, नाक, जीभ, आँख इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी मैं नष्ट नहीं होता । मैं की स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, बल्कि उनके भाव-अभाव का मैं प्रकाशक स्वयं प्रकाश ज्यों का त्यों ही विद्यमान रहता हूँ । अतः इन्द्रियाँ भी मैं नहीं हो सकता ।

अब फिर चौथा विकल्प उठाते हैं ''मन'' का । हम देखते हैं सुषुप्ति में मन का लय अज्ञान में हो जाता है इस कारण मन को कुछ पता नहीं चलता, किन्तु हम तब भी उसके अभाव को जानते रहते हैं ।

अब विचार होता है कि सुषुप्ति में जब सब जड़ी भूत हो जाते, तब मैं के होने का क्या प्रमाण है ? तब इसके प्रमाण में कहते हैं कि जब मनुष्य

सोकर उठता है तब सुषुप्ति में आनन्द तथा अज्ञान के अनुभव ज्ञान को जाग्रत में स्मृति कर कहता है कि रात मैं बहुत सुख से सोया और मैं कुछ भी नहीं जान पाया, कि कब आप लोगों ने खाया, कब आप लोग सोये, कब आप लोग गये, या कब कोई आया । यदि नींद में मैं नहीं होता तो नींद के सुख का अनुभव जाग्रत में स्मरण कर नहीं कहा जाता, क्योंकि किसी को भी बिना अनुभव की हुई, बिना जानी हुई वस्तु का स्मरण नहीं होता । इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्ति में, समाधि में, मुर्छा एवं मरण में अनुभव कर्ता कोई अवश्य चैतन्य रहता है और वह चैतन्य अनुभव कर्ता मुझ आत्मा का ही स्वरूप है, अर्थात् मैं ही हूँ । सुषुप्ति का जो साक्षी है वह कोई अन्य नहीं ''स्व'' ही है । इसी को वेद में सच्चिदानन्द कहा है । जो एक अखंड व्यापक है यह ''स्व'' स्वतः सिद्ध है । इसी स्व के बोध को आत्म ज्ञान कहते हैं । इस बोध स्वरूप स्वात्मा को हम जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं से नहीं जान सकते, किन्तु इसी के प्रकाश में बुद्धि की ये तीनों अवस्थाएँ जानी जाती है । यह ''स्व'' स्वयं बोध स्वरूप है । इसका अनुभव अपने आप ''वह मैं हूँ'' के रूप में होता है ।

प्रश्न-११४ : ''स्वात्मा'' का बोध होने पर भी दृश्य प्रपंच पूर्ववत क्यों दिखता रहता है ? तब ज्ञानी अज्ञानी में क्या अन्तर है ?

उत्तर : मैं सत्-चित्-आनन्द आत्मा हूँ इस प्रकार का बोध होने पर बुद्धि द्वारा समस्त जगत् की सत्यता का बाध हो जाता है । बाध का अर्थ नाश नहीं समझना चाहिये । जिस वस्तु का नाश हो जाता है, उसकी पुनः प्रतीति नहीं होती, किन्तु बुद्धि से बाधित वस्तु पूर्ववत् ज्यों की त्यों ही प्रतीत होती रहती है । अज्ञान काल में जो दृश्य जगत् सत्य प्रतीत होता था, ज्ञान हो जाने पर वह पदार्थ पूर्ववत् दिखाई तो पड़ता है, किन्तु उस पदार्थों में से सत्यत्व बुद्धि का भ्रम दूर हो जाता है, उसी का नाम बाध है । इसी बाध रूपता को एक उदाहरण द्वारा समझिये । सूर्य या चन्द्रमा बादलों की गति के कारण

प्रायः सभी को भागता-सा प्रतीत होता है, किन्तु बुद्धि में यह निश्चय बना रहता है कि बादल दौड़ रहे हैं चन्द्रमाँ या सूर्य नहीं । अथवा नाव, रेल चल रही है, किनारे के वृक्ष, मकान नहीं चल रहे हैं । फिर भी चलते, दौड़ते हुए प्रतीत होते रहते हैं । मरुस्थल में जल, शामुका (सीप) में रजत प्रतीत होने पर भी बुद्धि यह जानती है कि यह प्रतीति मात्र है । भ्रम मात्र है इस मिथ्यात्व निश्चय का नाम ही बाध कहलाता है । अर्थात जो वस्तु सत्ता शून्य होकर भी प्रतीत होती रहती है, वही भ्रम है । इसे ही भ्रान्ति या अध्यास भी कहते हैं । ज्ञान होने पर समस्त संसार का बाध हो जाने पर भी उसकी प्रतीति अज्ञानी की तरह ज्ञानी को भी होती रहने पर ज्ञानी यह जानता है कि यह भ्रम मात्र है । इस कारण उसकी प्राप्ति-अप्राप्ति में हर्ष-शोकवान् नहीं हो, साक्षी, द्रष्टा ही बना रहता है ।

जो यह गलत धारणा रखता है कि जाग्रत में भी जगत् का सुषुप्तिवत् पूर्ण अप्रतीति होने का नाम तत्त्वज्ञान होना कहा जावेगा । तब उसका यह ज्ञान हँसने योग्य ही कहलावेगा । उनका ज्ञान अभी अधुरा है । वेदान्त ज्ञान, जगत् का समूल से नाश नहीं करता, बल्कि जगत् की सत्यता का भ्रम छुड़ा, उसे मिथ्या ही निश्चय कराता है । फिर मैं, तू, यह, वह, सभी की सत्ता नहीं रहती । फिर मैं ज्ञानी, वह अज्ञानी इस प्रकार भेद भ्रान्ति,मिथ्या अहंकार भी नहीं रहता । समस्त दृश्य प्रपंच तो मिथ्या कोटि में आ जाता है, तब फिर किसका अभिमान एवं कौन करे ? ज्ञानी तो सदैव एक अखंड सत घन, चित घन, आनन्द घन, सत्ता से पृथक् किंचित् भी अन्य नहीं देखता । ‘‘**नेहनानास्ति किंचिन्**’’ ।

जो यह कहता है कि मुझे अब ज्ञान हो गया है, किन्तु अन्य को अभी ज्ञान नहीं हुआ है । तब ऐसा समझना चाहिये कि अभी वास्तव में उसे ही ज्ञान नहीं हुआ है । क्योंकि नींद टूट जाने पर स्वप्न का कोई दृश्य, स्वप्न द्रष्टा से भिन्न सत्य नहीं लगता । परम तत्त्व तो पहले भी था, आज भी है, व आगे भी रहेगा । तत्त्व ही तो ज्ञान है । तब फिर किसको क्या ज्ञान होगा ?

ज्ञानी को देह, प्राण, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण की कोई भी प्रकार की अवस्था का अभिमान नहीं रहता है ।

यस्यामतम् तस्य मतम् मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातम् विजानताम् विज्ञातमविजानताम् ।।

अर्थात् जो कहता है कि मैंने ब्रह्म को जान लिया, उसने नहीं जाना, क्योंकि ब्रह्म को पृथक् से जानने वाले अभिमानियों के लिये ब्रह्म अभी अज्ञात है । और जो उसे दृश्य रूप से जानने का इन्कार करता है कि मैं ब्रह्म को अपने से पृथक् नहीं जानता उसको ही ब्रह्म जानने में आया हुआ माना जाता है ?

प्रश्न-११५ः सिद्धियों का चमत्कार ज्ञानी द्वारा देखने में क्यों नहीं आता ?

उत्तर : सिद्धियों की प्राप्ति हेतु तपस्वी लोग तपस्या करते हैं, इस कारण तपस्वियों के पास ही सिद्धियों का चमत्कार देखने सुनने को मिलता है । जो ज्ञानी या अज्ञानी सिद्धि के लिये तपस्या नहीं करता, उसको सिद्धि प्राप्त भी नहीं होती । सिद्धि सकाम अन्तःकरण एवं तप का फल है । निष्काम अन्तःकरण व योग का फल सिद्धि नहीं है । तत्त्व ज्ञान से सिद्धियों की प्राप्ति नहीं होती । ज्ञानी तो तप रूप कर्म और उसका फल सिद्धि की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करता । उसकी दृष्टि में स्वरूप के अतिरिक्त कर्म, फल तथा कर्ता का भेद नहीं रहता । ज्ञान निष्ठा से तो सर्वत्र समदर्शन रूप ज्ञान समाधि की ही सिद्धि होती है ।

ज्ञान योगी, कर्म योगी और भक्त इन तीनों के पास सिद्धियाँ नहीं होती, क्योंकि कर्म योगी के हृदय में तो इच्छा होती ही नहीं है, वह तो सर्वथा निष्काम है । जब निष्काम है, तब कामना ही कैसे ? एवं जब कामना ही नहीं, तब इच्छा पुरुषार्थ ही नहीं, तो फल की प्राप्ति भी कैसे ? दूसरे भक्त निष्काम एवं भगवानमय सदा रहने से आप्त काम, पूर्ण काम भगवान को ही

जीवन का लक्ष्य सर्वेसर्वा प्राप्तव्य जान अन्य कुछ नहीं चाहते । उन्हें सिद्धियाँ किसे दिखाने या क्या पाने हेतु चाहिये ? अर्थात् उनके लिये अपने इष्ट से अन्य कुछ श्रेष्ठ नहीं, सिद्धियों को तो वो अपने मार्ग में, भगवत् प्रीति तथा प्राप्ति में विघ्न समझकर त्याग देता है । तब उसके पास सिद्धि रूप नर्तकियों को नचाकर, जगत् को रिझाने का अवकाश ही कहाँ ? इस प्रकार भक्तों के पास भी सिद्धि कैसे हो ?

तत्त्व ज्ञानी सिद्धि की प्राप्ति का स्थान अन्तःकरण जानता है । वह अन्तःकरण मिथ्या अज्ञान का कार्य है । ऐसा ज्ञानी का दृढ़ निश्चय होने से वह असत् सिद्धियों की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ तो क्या चर्चा करना एवं सुनना भी नहीं चाहता । ज्ञानी के लिये तप आदि कर्म एवं उनके फल रूप सिद्धियों का कोई अस्तित्त्व ही नहीं है । उसकी दृष्टि में तो आत्मा ब्रह्म को छोड़कर जगत् प्रपंच ही मिथ्या है । तब सिद्धियाँ तो है ही कहाँ ? ज्ञानी तो स्वयं प्रेमानंद स्वरूप होता है । उसकी दृष्टि में सिद्धियाँ अत्यन्त तुच्छ है, इसलिए उनका कोई महत्व भी नहीं । यह बात अलग है कि समस्त सिद्धि बिना चाहे उसके चारों ओर घूमती रहती है । अत्यन्त प्रेमास्पद, आनंद स्वरूप तो वह स्वयं है । तब फिर वह सिद्धि की कामना क्यों करेगा, किससे प्रेम करेगा ? सब सिद्धियों से श्रेष्ठ आत्म सिद्धि है, वह उसे मैं रूप में नित्य प्राप्त है । तब वह किस प्रयोजनार्थ समाधि-सिद्धि हेतु चेष्टा करेगा ? अर्थात् ज्ञानी सिद्धि समाधि हेतु चेष्टा नहीं करता ।

प्रश्न-११६ : इस जाग्रत स्वप्न का बाध कैसे हो ?

उत्तर : जैसे जाग्रत होने पर स्वप्न का बाध हो जाता है । उसी प्रकार इस जाग्रत स्वप्न के भी बाध होने का उपाय है । प्रश्नकर्ता यह विचार करे कि वह स्वयं जाग्रत स्वप्न के भीतर है या बाहर ? अर्थात् यदि वह स्वयं प्रपंच रूप पंचकोश(अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्दमय) में से किसी एक को ''स्व'' अपने आपका होना मानता है, तब तो वह स्वयं प्रपंच के भीतर, स्वप्न के भीतर है । और यदि वह अपने आपको इन कोशों से भिन्न मानता

हुआ मात्र उनका द्रष्टा-साक्षी है तब वह इस स्वप्न प्रपंच से बाहर ही है । जो सच्चिदानन्द घन आत्मा है उसके लिये तो जाग्रत 'स्वप्न' तथा सुषुप्ति सदा ही बाधित है । अन्नमय, प्राणमय, आदि पंच कोशों का तो उसकी दृष्टि में कोई अस्तित्त्व ही नहीं है । उसकी अपनी स्वयं प्रकाशता का कभी लोप भी नहीं होता है । वह सदा ही सजग एवं अपनी ही ज्योति से देदीप्यमान् है । उसकी दृष्टि का कभी लोप नहीं । अतः उससे यह प्रश्न हो ही नहीं सकता । तब मानना पड़ेगा कि प्रश्नकर्ता प्रपंच के अर्न्तगत ही खड़ा हो प्रश्न कर सकता है । अतः इस प्रश्नकर्ता को स्वप्न से जागते हेतु निरन्तर वेदान्त तत्त्व का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करते रहना चाहिये । मुमुक्षु हेतु अपने द्रष्टा, साक्षी, स्वयं प्रकाश, स्वतः सिद्ध, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप का दृढ़ निश्चय करते रहना ही एकमात्र उपाय है ?

प्रश्न-११७ : जो दृश्य है वह नाशवान कैसे कहलाता है ?

उत्तर : ''व्यावहारिकः प्रपंचः मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्ति रूप्यवत्'' सीप में दिखने वाली चाँदी की तरह यह दृश्यमान् व्यावहारिक जगत् मिथ्या है ।

अब यहाँ शंका होती है कि सीप में चाँदी की प्रतीति तो मिथ्या भ्रम मात्र होती है, किन्तु स्वयं सीप जो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है वह भ्रम कैसे कही जा सकेगी ? या असली चाँदी को कहीं देखा है तभी तो उसका भ्रम हुआ है । यदि असली चाँदी ही नहीं देखी होती तो भ्रम भी कैसे हो पाता ?

उपरोक्त शंका का समाधान यह है कि जब हम सीप में रजत को देखते हैं तब हमें सीप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता । तब तक तो वह हमें रजत प्रत्यक्ष एवं यथार्थ रूप ही दिखती है । रजत को हम भ्रम रूप तभी मानते हैं, जब हमें सीपी का ज्ञान हो जाता है । सीपी के ज्ञान हो जाने के पश्चात चाहे रजत का भाव होता रहे, तो भी हम उसे सत्य न जान भ्रम रूप ही जानते रहते हैं । इसी प्रकार सभी दृश्य भ्रम मात्र है । यदि सीप को सत्य मान लिया जावे, तो भी बात नहीं बनती है ।

सत्य पदार्थ सर्वदा रहता है, उसका किसी परिस्थिति में अभाव या लोप नहीं होता है । किन्तु सीपी का तो हम जाग्रत में भी रजत भ्रम के समय लोप देखते हैं । सीपी यदि सत्य होती तो ज्यों कि त्यों जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों कालों में प्रतीति होती । सीपी केवल जाग्रत में ही रजत भ्रम दूर होने पर अल्प काल के लिये दिखाई पड़ती हैं, इसलिए वह सत्य नहीं है । सीपी या अन्य पदार्थ की ओर से दृष्टि हटा लेने पर भी वह पदार्थ दिखाई नहीं पड़ता । अस्तु संसार के सभी पदार्थ चाहे वे व्यवहारिक सत्ता वाले रस्सी, सीप, मरुस्थल रूप हो, चाहे प्रातिभासिक सत्ता वाले सर्प, रजत, जल ही क्यों न भासित हो रहे हों । सभी भ्रम मात्र मिथ्या है ।

उपरोक्त दृष्टान्त से मन में ऐसा विचार उदय होता है कि फिर तो कोई भी ऐसा पदार्थ-वस्तु विश्व में नहीं जो सत्य की कसौटी पर खरा उतरे । तो इसके उत्तर में वेदान्ताचार्य कहेंगे कि ऐसा पदार्थ एकमात्र ''तू ही है'' । भाव-अभाव, दृश्य-अदृश्य का प्रकाशक तू आत्मा सत्य है । क्योंकि जब सीपी में रजत दिखती है, तब हमें ही दिखती है । यदि मैं न होऊँ तो भ्रम का भान होता ही कैसे ? यानि भ्रमोदय काल में मैं हूँ एवं जब सीपी अधिष्ठान का बोध हो रजत का बाध हो जाता है तब भी मैं हूँ । और जब सीपी से दृष्टि हट अन्य पदार्थ, स्थान या स्वप्न सुषुप्ति आदि अवस्था में पहुँच जाती है, तब भी मैं तो हूँ ही । यदि मैं न होता तो स्वप्न-सुषुप्ति को देखता भी कौन ? इस प्रकार हमारे ''स्व''-मैं का कहीं लोप नहीं होता । अतः यह ''स्व'' ही सत्य है । इससे भिन्न सभी पदार्थ, वृत्ति दृश्य होने से मिथ्या ही है । यह ''स्व'' ही मैं, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, ज्ञान, आनन्द, चेतन आदि कई नामों से कहा जाता है । यही एक सत्य है शेष सब नाशवान है ।

इस यथार्थ मैं को जब हम अज्ञानता से देह रूप में मान लेते हैं, तभी हमें जगत् की प्रतीति होती है । तभी हमारे लिये जगत् का अस्तित्त्व है । जब सभी दृश्य पदार्थ मिथ्या है, तो फिर जगत् का अर्थ ही क्या हो सकता है ? जैसे सीपी को जान लेने पर रजत शब्द मात्र रह जाता है । इस प्रकार जब

हम अपने को जगत् से पृथक् समझ लेते हैं तब जगत् शब्द का अर्थ भी शून्य ही रह जाता है । जैसे रज्जु रूप आधार के बिना सर्प भ्रम नहीं हो सकता है । और रस्सी को ही विषय सर्प मान लिया जाता है । उसी प्रकार ब्रह्म अधिष्ठान के बिना जगत् भ्रम नहीं हो सकता है । और ब्रह्म को ही जगत् समझ लिया जाता है अतः जगत् का अस्तित्त्व तो हमारी नासमझी ही है । और इस नासमझी का नाम ही जगत् है । ब्रह्मातिरिक्त जगत् कुछ नहीं है ।

इस कल्पित जगत् को दो भागों में विभक्त कर अपने को द्रष्टा तथा इससे भिन्न सभी पदार्थों को दृश्य मानना जीव कहलाता है । इन्हीं दोनों द्रष्टा और दृश्य के भेद से अलिप्त रहकर अपने आपको इनका आरोपक समझलेना ही ईश्वर है । परन्तु दृश्य-दृष्टा-ईश्वर इन तीनों का आत्म ज्ञान से बाध होकर एक स्वयं प्रकाश का बोध होना ही ब्रह्म साक्षात्कार है । यही स्वरूपानुभूति है । यही ज्ञान है ।

प्रश्न-२२८ : द्रष्टा ही दृश्य विर्वत कैसे है ?

उत्तर : दृश्यों में पृथक्ता दिखाई देते हुए भी तत्त्वतः वे सब एक ही है । सभी दृश्य होने से एक कोटि में आ जाते हैं । अब विचारना चाहिये कि द्रष्टा और दृश्य में क्या सम्बन्ध है ? हम देखते हैं कि सम्बन्ध दो वस्तुओं में ही होता है, और जहाँ सम्बन्ध होता है, वहाँ संधि भी होती है । जैसे घड़े और पृथ्वी में आधार आधेय का सम्बन्ध है । पृथ्वी आधार है घड़ा आधेय है । अतः घड़े और पृथ्वी का मिलन स्थान उन दोनों की संधि कहलाती है । अब विचारना है कि इस प्रकार दृश्य और द्रष्टा में कोई सन्धि है क्या ? जब नेत्र से किसी वस्तु को देखते हैं, तो नेत्र का उस वस्तु का संयोग स्थल ही संधि कहलायेगा । परन्तु तत्त्वतः यह भ्रम ही है । क्योंकि नेत्र और वस्तु दोनों ही दृश्य कोटि में आजाते हैं । अतः इनकी संधि भी दृश्य कोटि में आ जाती है । जब यह सब दृश्य ही हुए तो सन्धि का प्रश्न ही नेत्र एवं विषय के अर्न्तगत नहीं उठता । इस प्रकार नेत्र व मन भी दोनों द्रश्य होने से सन्धि स्थल नहीं है । इसी प्रकार मन व बुद्धि भी दृश्य है । भोक्ता जीव तथा बुद्धि दोनों दृश्य होने

से द्रष्टा-दृश्य सम्बन्ध भेद नहीं रहता । अब रहा शुद्ध तत्त्व ब्रह्म । यदि इसका और विषय का सम्बन्ध लिया जाय तो यह बताया जा चुका है कि समस्त चराचर जगत् ब्रह्म का विर्वत है । अर्थात् जैसे सीप में रजत कल्पित है उसी प्रकार यह जगत् भी ब्रह्म में कल्पित भ्रम रूप है । जिसकी कोई सत्ता एवं अस्तित्त्व ही नहीं है, तो इसकी सन्धि का भी कोई अस्तित्त्व नहीं हो सकता । इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य एक ही है ।

पहले रूप और नेत्र का, फिर नेत्र और मन का, फिर मन और बुद्धि का, फिर बुद्धि और प्रमाता(भोक्ता) जीव का तथा अन्त में भोक्ता और साक्षी का विवेक करना चाहिये ।

जिनके बीच में संधि नहीं होती वे दो पदार्थ एक ही होते हैं । इस कारण अखिल दृश्य प्रपंच ब्रह्म का ही विर्वत है, क्योंकि दोनों के बीच कोई सन्धि स्थल नहीं है ।

प्रशन-११९: अध्यास का क्या स्वरूप है ?

उत्तर : ''अतस्मिन् तदबुद्धिः अध्यास'' अर्थात् दृश्य में 'यह मैं हूँ' बुद्धि होना ही अध्यास है । वास्तव में जो मैं नहीं हूँ, अपने को वैसा समझ लेना अथवा जो वस्तु जैसी नहीं है उसको वैसा समझलेना अध्यास कहलाता है । जैसे रज्जु में सर्प का अध्यास । अर्थात् रज्जु सर्प नहीं है, किन्तु उसे सर्प मान लेना ही अध्यास है । इसको समझने के लिये ''यह'' और ''मैं'' इन दो शब्दों को समझने की आवश्यकता है । ''मैं'' से जितने भी इतर पदार्थ है वह सब ''यह'' की परिधि में आ जाते हैं । ''मैं'' से इतर पदार्थों में से ''मैं'' के साथ जिसका अध्यास होता है वह है ''देह संघात्'' । इस देह संघात में से अधिकांश मनुष्य तो इस स्थूल शरीर को ही मैं मानलेते हैं । इसी प्रकार बहुत से प्राण को, कोई इन्द्रियों को, कोई मन को ही मैं मान लेते हैं । तात्पर्य ''यह''(मन, इन्द्रिय, प्राण) देहादि को मैं साक्षी मान लेना ही अध्यास है ।

प्रश्न-१२० : मन जड़ होते हुए वह सृष्टि का कारण कैसे है ?

उत्तर : जगत् के पदार्थों में कारण-कार्य का अटल सिद्धान्त माना गया है । अर्थात् देखा जाता है कि कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता । अतः देखना है कि इस जगत् का कारण कौन है ? दृष्टि सृष्टिवाद के सिद्धान्त से दृष्टि के साथ ही सृष्टि का उद्भव व विलय होता है । वास्तव में देखा जाय तो सुषुप्ति में हमारे लिये इस सृष्टि का कोई अस्तित्त्व ही नहीं । उस समय हमारा मन कारण(अज्ञान) में लय रहता है । जब मन का सुषुप्ति से उत्थान होता है तब वह सक्रिय हो उठता है तभी सृष्टि का अस्तित्त्व दृष्टिगोचर होने लगता है । अतः कह सकते हैं कि यह जगत् मन की ही कृति है । मन ही जगत् का कारण है एवं जगत् मन का कार्य है । अब देखिये इस जगत् को देखने वाला भी वही मन है, किन्तु माया कि कृति होने के कारण मन स्वयं जड़ है, इसमें ज्ञान, शक्ति, चैतन्यता नहीं । तब इसको साक्षी(चैतन्य) का सहारा लेना पड़ता है । इस साक्षी का सहचर्य पाकर यह जड़ मन चैतन्यवत् अन्य को भी प्रकाशित करने लग जाता है । जैसे चुम्बकिय शक्ति द्वारा लोह चूर्ण कागज पर इधर-उधर सरकने लग जाता है । इसी प्रकार यह मन(चिदाभास जीव) भी जगत् का द्रष्टा बन बैठता है ।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जड़ मन स्वयं तो साक्षी द्वारा प्रकाशित होता है, तब वह अन्य को कैसे प्रकाशित कर सकता है ? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे सूर्य के प्रकाश से सभी वस्तुएँ स्वयं तो प्रकाशित होती है, किन्तु उसमें दूसरों को प्रकाशित करने की सामर्थ्यता नहीं होती है । फिर भी अन्य वस्तुओं की अपेक्षा उज्जवल दर्पण में सूर्य आभास रूप से प्रकट होने से विशेष शक्ति आ जाती है । इसी प्रकार सत्वगुण प्रधान मन में ब्रह्म का जो आभास है वही अध्यास जीव अपने आपको द्रष्टा मानने लगता है । जब ब्रह्म अपने से पृथक् कार्य वर्ग को देखता है, तो वह चिदाभास जीव कहलाता है । और जब अध्यास से मुक्त होकर देखता है तब साक्षी कहलाता है । इस प्रकार कारण मन एवं कार्य जगत् दोनों को ही साक्षी एक साथ

प्रकाशित करता है याने देखता है ।

जीवों के पृथक्-पृथक् अस्तित्त्व औपाधिक है । वास्तव में इनका अर्थ एक ही है । इस कथन का अर्थ यह है कि इस जगत् में जो नाना जीव की प्रतीति हो रही है, वह यथार्थ नहीं है । एक ब्रह्म में नाना अन्तःकरण रूप उपाधि के वर्तमान रहने से ही इन पृथक्-पृथक् जीवों की उपलब्धि होती है । यदि अन्तःकरण रूप उपाधि हटाली जावे तो एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है । यही साक्षी है । यही सबका अस्तित्त्व है और यही ''मैं'' है ।

जैसे एक सूर्य वास्तव में सत्य होते हुए भी जल से भरे नाना पात्रों में नाना सूर्य आभास प्रतिबिम्बित होते हैं । यदि समस्त घट उपाधियों को पानी से रिक्त कर दिया जाय तो एकमात्र आकाश स्थित सूर्य ही केवल दृष्टिगोचर होता है । वही मुख्य सूर्य है, शेष तो आभास मात्र है । इसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म तो एक ही है स्वप्न द्रष्टा की तरह शेष तो सभी स्वप्न पुरुषवत् जीवाभास है ।

प्रश्न-१२१ : मनोनाश या वासना क्षय कैसे हो ?

उत्तर : विषयों का चिंतन ही चित्त या मन है । मन सुषुप्ति समाधि तथा मुर्च्छा को छोड़ सदा ही विचार रत बना रहता है । दृश्य के सम्बन्ध में सोचना, विचारना ही मन है । जब यह दृश्य सम्बन्ध में अहं बुद्धि या सोचना विचारना छोड़ देता है तब यह मन चित् स्वरूप अर्थात् आत्म स्वरूप हो जाता है । यदि मन देह सम्बन्ध में सोचता है तो मन है, नहीं सोचता है या आत्म चिन्तन करता है, तो यही मन का अमन या मनोनाश है ।

समाधि, मुर्च्छा तथा सुषुप्ति दृश्य जगत् के विचार से तो रहित होती है, किन्तु अज्ञान या तमः प्रधान अविद्या की वृत्ति बनी रहती है । इस कारण इस सुषुप्ति अवस्था में विषयों का कारण सहित अभाव नहीं होता । इन अवस्था से हटते ही जाग्रत में पुनः विषयों का भान एवं राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि अन्तःकरण की सात्विक, राजसिक, तामसिक वृत्तियों का भावाभाव प्रारम्भ हो जाता है ।

अब प्रश्न होता है कि विषयों का पूर्णतया अभाव कैसे हो ? इसका समाधान यही कि विषयों के प्रति पूर्ण मिथ्यात्व ही इसका एकमात्र उपाय है । यदि यह दृढ़ निश्चय हो जाय कि यावन्मात्र विषय मिथ्या है, कल्पित है, प्रतीति मात्र है तो फिर इनके वर्तमान रहते हुए भी इनका प्रभाव चित्त के ऊपर नहीं पड़ता है ।

जाग्रत एवं स्वप्न दोनों अवस्थाएँ एक दूसरे काल में अभाव रूप होने से मिथ्या हो जाती है । यह नियम है कि जो आदि तथा अन्त में सत्ता रूप, अस्ति रूप, है रूप प्रतीत नहीं होता वह मिथ्या है । जैसे समाधि, सुषुप्ति, जाग्रत, स्वप्न आदि अवस्थाएँ एवं संसार की प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण बदल रही हैं । यहाँ तक की पहाड़ भी बदल रहे हैं । यहाँ प्रत्येक सामान वैसा ही नहीं रहता है,जो उसके पूर्व क्षण में था ।

जाग्रत तथा स्वप्न दोनों ही अवस्थाएँ समान ही है । निद्रा रूपी दोष से ग्रस्त यह स्वप्नावस्था है, तथा अनादि अज्ञान निद्रा से ग्रस्त जाग्रतावस्था है । जैसे स्वप्न के पदार्थों का आदि अन्त अव्यक्त है । उसी प्रकार जाग्रत के समस्त पदार्थों का भी आदि अन्त अव्यक्त ही है । इस प्रकार दोनों का आदि अन्त ढूंढने से नहीं मिलता है । इसलिये मिथ्या है । इस प्रकार जब इस देह से लेकर ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण आदि के लोक के सुख भोग की इच्छा न हो, एवं उनमें सत्यत्व तथा सुख बुद्धि न हो, बल्कि उनमें अनित्य एवं दुःख बुद्धि हो, तब दृश्य के रहते हुए भी संकल्प विकल्प नहीं उठते हैं । जैसे बादलों के दौड़ने पर चन्द्रमा, ट्रेन, मोटर, नौका के चलने पर ग्राम, पेड़, चलते प्रतीत होने पर भी उनके चलने का संकल्प विकल्प नहीं उठता है ।